ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक—११

ग्रन्थमाला सम्पादक :

डॉ० हीरालाल जैन, डॉ० आ० ने० उपाध्ये, लक्ष्मीचन्द्र जैन

Mūrtidevī Series : Hindi Title No. 11

SOLAHA KĀRAṆA BHĀWANĀ

MAHATMA BHAGAWAN DEEN

Bharatiya Jnanpith Publication

First Edition 1966

Price Rs. 2.00

भारतीय ज्ञानपीठ
प्रकाशन

प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता–२७

प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

विक्रय-केन्द्र
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण १९६६

मूल्य दो रुपये

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी–५

विषय-क्रम

■

विश्वास

विश्वास ऐसा शब्द है, जिसे बच्चा-बच्चा जानता है, हर व्यक्ति इस गुणसे लैस मिलेगा। विश्वास छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, नीच-ऊँच, किसी तरहका भेद नहीं जानता। पर जो विश्वास इस तरह मानव समाजमें सर्वव्यापी है, वही अपने अन्दर एक ऐसा भेद छिपाये हुए है, जिसे बहुत कम लोग जानते हैं।

मेहका खालिस पानी किसीको स्वादिष्ट नहीं लगता, क्योंकि हम सब बचपनसे ही नहीं, पीढ़ियोंसे विकृत पानी पीते आये हैं। और इसलिए खालिस पानीको थोड़ा कड़ुवा होनेके कारण विकृत कह बैठते हैं। उसे दवाके तौरपर भले ही गटक लें, जीसे गले उतारना नहीं चाहते। खालिस सत्य या विशुद्ध विश्वासका भी यही हाल है। एक ऋषिने विशुद्ध विश्वास-को दर्शन-विशुद्धि कहा। उसे सम्यक् दर्शन नाम दिया। कितना सुन्दर नाम है। जी चाहता है उस लेखनीको चूम लूँ, जिसने पहले-पहल सम्यक् दर्शन शब्द लिखा स्वयं बलिहारी उस सूझकी जिसको यह नाम सूझा। 'सम्यक् दर्शन' पद स्वयं यह कहता मालूम होता है कि मैं कल्पित नहीं हूँ, मैं साक्षात्कारकी सृष्टि हूँ।

सम्यक् दर्शनका सीधा-सादा अर्थ है—ठीक-ठीक दिखाई देना। जिसे ठीक दिखाई दे गया, वह पक्का विश्वासी बन ही जायेगा। वह पतित समाजके लिए ऐसा ही सिद्ध होगा, जैसे कुधातुके लिए सुधातु; यानी लोहेके लिए पारस मणि।

इसी निर्मल विश्वासमें-से उत्तम नेतृत्वका किल्ला फूटता है। यदि प्रारम्भमें ही इसकी अच्छी बाड़ बाँध ली गयी, तो यह बड़ी जल्दी पन-

पता है। यह जितना ऊपर फैलता है, उससे दुगुनी नीचे अपनी जड़ फेंकता है। यह जितना ऊपर फैलता है उससे दुगुने घेरेमें अपनी जड़ें और उप-जड़ें बिखेरता है। इसलिए संसारी तूफ़ान इसे धराशायी तो कर ही नहीं सकते, इसके सन्तुलनको भी नहीं बिगाड़ सकते। यह झंझावात और तूफ़ानोंका समीरकी तरह आनन्द लेता है।

नेतृत्वका अंकुर फूटता है का अर्थ है—इस विशुद्ध विश्वासका धारी ही समाजका नेतृत्व करता है, देशका नेतृत्व करता है और जगत्-नेता बनकर प्राण त्याग करता है।

ऐसा विश्वास आकांक्षा और महत्त्वाकांक्षाका लक्ष्य नहीं। यह विन-म्रता और विनयका ही लक्ष्य हुआ करता है। उत्तम क्षमा ही जैसे विश्वा-सको वरती है।

निर्भीकता और निःस्वार्थताके काँटोंकी बाड़

ऊपर बाड़ बनानेकी बात कही है। वह बाड़ होगी निर्भीकता और निःस्वार्थताके काँटोंकी। काँटा नुकीला होता है, पर उसकी नोक आक्रमण-कारी नहीं होती, आत्मरक्षक होती है। निर्भीक शब्दका यह अर्थ नहीं कि वह चाहे जिसपर धावा बोल देगा, चाहे जब आगमें कूद पड़ेगा, जब जो चाहे कर बैठेगा। निर्भीकताका आक्रमणताके साथ दूरका भी नाता नहीं है। आक्रमण-हीनता और निर्भीकता एकार्थवाची है।

प्राणी जितना दूसरेसे डरता है, उतना ही ख़ुद डरपोक होता है। शेरसे सभी डरते हैं, पर वह तो पत्तोंकी खड़खड़ाहटसे भी डरकर भागता है। चोरसे सभी डरते हैं, पर ऐसा डरावना चोर खाँसीसे डरता है, दीपककी ज्योतिसे डरता है और न जाने किन-किन तुच्छ बातोंसे डरता है। शेर और चोर दोनों विवश होकर मुक़ाबलेपर उतारू हो जाते हैं। जानपर खेल जाते हैं। इसे बहादुरीका नाम दे बैठना भारी भूल है। बहादुरी चीज़ ही दूसरी है।

जिस निर्भीकताकी बाड़ नेतृत्वके अंकुरके चारों तरफ़ बनानेकी बात कही, वह ऐसी निर्भीकता है जो अपने आसपास भी निर्भीकताका वातावरण तैयार करती है, यानी आसपासके लोगों और प्राणियोंको अभय कर देती है। अभयदान अकेली ऐसी क्रिया है, जो निर्भीक बना देती है। डरनेकी नहीं, डरानेकी भावना निकालकर शेरके सामने भी जाओ तो वह आक्रमण नहीं करता।

ऐसी निर्भीकता निर्मल विश्वासके साथ अपने-आप आ उपस्थित होती है। निर्मल विश्वास दिखाई देनेवाली चीज़ नहीं, पर निर्भीकताकी प्रतिक्रिया ऐसी चीज़ है जो हरएकको दिखाई देती है।

दूसरी बाड़ निःस्वार्थताकी है। निःस्वार्थताका मतलब है दूसरोंके खातिर जीना। जिस तरह माँ बेटेके खातिर जीती है, बेटेके बीमार पड़नेपर माँको संयमसे रहना पड़ता है, दवा खानी पड़ती है, वैसे ही बेटी-बेटोंके बापको उनकी माँके खातिर जीना पड़ता है। पतिका दूसरा नाम है भर्तार, यानी औरतका भरण-पोषण करनेवाला। पसीनेकी कमाई जो पत्नीके हाथमें सौंप दे, उसे निःस्वार्थी न कहा जाये तो किसे कहा जाये? इसी तरह निर्मल विश्वासी नेता खाता है तो समाजके लिए खाता है, पहनता है तो समाजके लिए पहनता है। जिस भी सुखका, वह उपभोग करता है, समाजके लिए करता है। तभी तो कोई कवि धुनमें आकर यह कह बैठता है कि—माँएँ खाती ही नहीं, सन्त खाते ही नहीं। सचमुच जो माँ अपने पुत्रपर अपना यौवन और कान्ति वार देती है, वह कितना भी खाये, तो न खाती-जैसी ही है। इसी तरह सन्त और दूसरे नेता जो जवानी समाजपर वार देते हैं, उनका खाना-पीना, न खाने-पीने-जैसा ही है।

निर्मल विश्वासी नेताका ध्यान शक्ति बनाये रखनेकी ओर होता है। शक्ति बनाये रखनेका सर्वश्रेष्ठ नुसखा है—स्वादजयी होना। इसलिए उसके पास आप चाहे फल-फूल ले जाइए, मिठाई ले जाइए, छत्तीस प्रकारके व्यंजन ले जाइए, साग-पात ले जाइए, पर वह जरूरतसे ज्यादा ग्रहण नहीं

करेगा। उसने स्वाद जीता नहीं, स्वादने उसके स्वादको पहचानकर उससे छुट्टी ले ली होती है। इसलिए उसे कड़वे-मीठेका बहुत कम भान होता है। यह गुण भी प्रयाससे प्राप्त नहीं होता। यह नेतृत्व-वृक्षका फूल है। लड़की माँ बनी कि उसे स्वादपर क़ाबू हुआ। आदमीको समाजोत्थानकी सूझी कि स्वादपर अधिकार हुआ।

निर्मल विश्वास लेकर चाहे धार्मिक क्षेत्रमें, चाहे किसी और क्षेत्रमें उतरो, चाल क्रमशः बढ़ती ही चली जायेगी। कभी अकेले, कभी दुकेले, कभी सैकड़ों साथियोंके साथ, कभी फिर अकेले। रहा नेता बननेका काम। यह व्यक्तिसे ज्यादा उसका निर्मल विश्वास समझता है और उससे भी ज्यादा वे समझते हैं, जो उस व्यक्तिके निर्मल विश्वासके सहारे उसके साथ चल रहे होते हैं। जिन्हें उसके नेतृत्वकी ज़रूरत होती है। पहाड़को चोटी-की ज़रूरत होती है। पहाड़ चोटियोंके नामसे पुकारे जाते हैं। चोटीको चोटीकी हैसियतसे न कोई लाभ है, न ज़रूरत। इसी तरह समाज किसी नेताके नामसे पुकारे जाते हैं। नेताको अपने लिए न नेतापनकी ज़रूरत है और न वह उसके किसी कामकी चीज है।

व्यक्ति मात्रको जन्मसे ही अपने देहका नेतृत्व प्राप्त है। उसके वर्धनमें बालक जितना निर्भीक और निःस्वार्थ होता है, और उसे जितना अपने उत्कर्षका अटल विश्वास होता है, उसका आधा चौथाई भी अगर समाज क्षेत्रमें कूदनेवालोंमें हो तो कौन है जो उन्हें अगुवा माननेसे इनकार करे? यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि बालक महत्त्वाकांक्षी नहीं होते। सब महत्त्वाकांक्षी ही उन्हें उठाये-उठाये फिरते हैं। यों कहें कि महत्त्वाकांक्षी वह, जो परछाईं पकड़नेको दौड़े, और महत्त्वाकांक्षाके कन्धोंपर चढ़कर बढ़ने-वाला वह, जिसके पीछे-पीछे परछाईं दौड़ी आ रही हो।

विशुद्ध विश्वासके वे मूल तत्त्व हैं। इन्हें हृदयस्थ करके किसी नेता या महापुरुषकी जीवनी पढ़ें, तो वह तत्त्व हाथ लग सकते हैं, जो उस निर्मल-विश्वासके पैदा करनेमें सहायक हों और जो नेता बननेके लिए ज़रूरी है।

●

विनय-सम्पन्नता

विनयका जितना अभाव दिखलाई पड़ता है, उतनी ही उसकी भरमार है। दुनियाका कोई देश ऐसा नहीं, जहाँ विनयका अकाल हो। फिर भी सच्चे अर्थोंमें विनय ढूँढ़े नहीं मिलती।

यह बात लगेगी तो उलटवाँसी-सी (पैराडॉक्स) पर है बिलकुल सच। जिनके पैरोंमें सैकड़ों सिर झुकते हैं, वे विनयका भण्डार होते हैं। झुकनेवाले सिर या तो विनय-शून्य होते हैं या बहुत ही कम विनयको अपनेमें जगह दे सकते हैं। साधारण जनताके सिर प्रसिद्धिको झुकते हैं, गुणको नहीं। ऐसी विनय, विनय नाम नहीं पा सकती। उसे विनय-की परछाईं कहनेमें भी झिझक होती है। पत्थरकी मूरतको झुकनेवाला सिर विनय-सम्पन्न ही हो, यह कहना कठिन है, पर उसे मद या मान-सम्पन्न सिर कहनेमें तनिक भी सन्देह नहीं।

वह विनय, विनय ही नहीं है जो मनुष्यमें हलकापन पैदा न करे। दर्शन विशुद्धि यानी दृढ़ विश्वासके बिना विनय-सम्पन्नता प्राप्त नहीं होती। विनय गुण स्वतन्त्र रहनेवाला गुण ही नहीं है। अगर कहीं दिखाई दे तो वह मद या मानका ही रूप समझा जाना चाहिए।

मान-सम्पन्न

एक आदमी था। उसे 'राजा' के नामसे चिढ़ थी। अगर राजाकी सवारी कभी शहरमें निकलती तो वह घरसे न निकलता। अगर बाज़ारमें होता तो घर भाग जाता। उसकी यह घृणा धीरे-धीरे लोगोंपर प्रकट हो गयी। लोगोंके सिरोंपर-से सरकती-सरकती राजा तक जा पहुँची।

राजा ठहरा राजा। उसने तुरन्त उस आदमीको दरबारमें हाजिर होनेका हुक्म दिया। वजीर चालाक हुआ ही करते हैं। इसलिए वजीरने राजाका हुक्म तो बहाल रखा, लेकिन उस हुक्मको थोड़ा नरम बना दिया। उस हुक्मको यह रूप दे दिया गया कि राजा आपसे बहुत प्रसन्न हैं। आपकी विद्वत्तापर मुग्ध हैं। आपके दर्शनोंके इच्छुक हैं। बड़ी कृपा हो अगर आप दरबारमें पधारकर राजाके साथ-साथ हम सबको भी अपने दर्शनोंसे कृतार्थ करें। विनम्रतासे भरा जब इस तरहका पत्र उस घमण्डीके पास पहुँचा, तो वह असमंजसमें पड़ गया। दरबारमें हाजिर होनेसे न इनकार कर सकता था, न निमन्त्रण स्वीकार कर सकता था। दरबारमें आना यानी राजाके आगे सिर झुकाना। अभिमानी सिर ऐसा कैसे कर सकता था? वह चिन्तामें पड़ गया।

जहाँ चाह होती है वहाँ राह निकल आती है। राह निकल आयी। वह दरबारमें गया। उसने राजाको सिर झुकाया। अच्छा स्वागत पाया। सरोपा भी हाथ आया, पर अभिमानी मन अन्दर-ही-अन्दर दुःखी था। दरबारसे लौटनेपर घर पहुँचते-पहुँचते साथियोंने प्रश्नोंकी झड़ी खड़ी कर दी। कहिए, दरबारमें कैसी बीती? राजा कैसा लगा? राजाने आपके साथ कैसा व्यवहार किया? पहले राजाने आपको नमस्कार किया या आपने राजाको? आपके लिए राजा उठा था या………बीचमें ही लोगोंकी बात काटकर वह बिगड़कर बोल उठा, मैं राजाको क्यों नमस्कार करता? मेरा सिर तो सिवा भगवान्के किसी औरको नहीं झुक सकता।

यह सुनकर भीड़में खड़ा एक दरबारी बोल उठा और हमने तो आपको नमस्कार करते देखा था। यह सुन उस आदमीने अजब-सा मुँह बनाया और आँखें फाड़कर उस दरबारीपर सिरसे पाँव तक नजर डाली। उत्तरमें बोला तो कुछ नहीं। अपना दायाँ हाथ उसकी ओर पसार दिया। उस हाथकी अनामिकामें सोनेकी एक अँगूठी थी। उसमें एक नग जड़ा

था। जिस तरह हाथ फैलाया गया था उसे होशियार दरबारीने ताड़ लिया। एक भेद-भरी निगाह नगपर डाली। मुसकराया और यह कहता हुआ चलता बना, 'क्यों अपनेको धोखा देते हो।' बात यह थी कि उस नगमें एक आदमीकी मूरत खुदी हुई थी, जिसे वह अपना भगवान् कहता था। हाथ दिखाकर वह जताना चाहता था कि उसने राजाको सिर नहीं झुकाया।

बस इसी तरहकी मद, मान-सम्पन्न विनय जगह-जगह नाश करती हुई दिखाई देगी। ऐसी विनय विशुद्ध-विश्वासका विनाश करती है। और अन्धश्रद्धाको जन्म देती है, दासताकी वृद्धि करती है। सच्चे नेतृत्वके बीज-को जमने नहीं देती।

रिवाजी-विनय नमस्कार, प्रणाम, या पायलागन, दण्डवत्, तस्लीम, कोरनिश इत्यादि विनय नाम नहीं पा सकती। जो विनय-सम्पन्नता दर्शन विशुद्धिसे पैदा होती है वह कुछ और ही है।

हीरेकी चमक देखकर मामूली आदमी भी आहा-आहा कह उठ सकता है, पर जौहरीकी आहा-आहाके आगे उसकी आहा-आहाकी कौड़ी भी नहीं उठ सकती। जैसे जवाहरके जौहरको जौहरी ही परख सकता है, वैसे ही आदमीमें निवास करनेवाले जौहरको दर्शन-विशुद्धि ही परख सकती है, और उनकी शानमें झुका हुआ सिर ही विनय-सम्पन्न समझा जा सकता है।

विनय-सम्पन्नताके बिना नेता बननेकी सोचना, अग्निके बिना खाना बनानेकी बात सोचना है। अग्नि दाल-आटेकी अपेक्षा जितनी अनावश्यक है उतनी ही दाल-आटेको भोज्य वस्तुमें परिणत करनेके लिए आवश्यक है। विनय देखनेमें तो अनावश्यक मालूम होती है, पर वह तो विश्वासके लिए इतनी ही जरूरी है, जितना आँखोंके लिए प्रकाश।

विश्वास अगर पक्षी है तो विनय उसके पंख हैं, विश्वास अगर रत्न है तो विनय उसकी ज्योति है। विश्वास अगर यान है, तो विनय उसके

चक्र है। विश्वास अगर आत्मा है तो विनय उसकी चेतना है।

व्यक्तिमात्र जिस तरह अवगुणोंका भण्डार है, उसी तरह गुणोंका भण्डार भी है। माना कि नजर दूसरोंके अवगुणोंपर पड़ती है, उन्हींका पोषण करती है, उन्हींका वर्धन करती है, उन्हींको जगाती है। लेकिन सम्यक् श्रद्धानीकी विनय दूसरोंके केवल गुणोंपर नजर डालती है। उन्हें जगमगा देती है। उन्हें खिल उठनेका अवसर देती है। तभी तो लोग उसकी ओर खिचते हैं, उसका अनुकरण करनेकी यथाशक्ति कोशिश करते हैं। ऐसा विनयी नेता बनना न चाहते हुए भी नेता पदपर बिना प्रयास प्रतिष्ठित हो जाता है।

विनय अगर प्रयासजन्य है, तो वह सच्चा विनय नहीं है। सच्चा विनय स्वाभाविक होता है। विनय प्रदर्शन करनेके जो अनेक रूप पाये जाते हैं, वे हैं तो सच्चे विनयकी ही औलाद, पर जो रूप-रिवाज ले बैठे हैं, वे मान-माया-लोभकी औलाद हैं। सच्चे प्रेम प्रदर्शनके जैसे अनेक रूप होते हैं और जैसे उन्हीं रूपों-द्वारा मिथ्या प्रेम प्रदर्शन किया जाता है, वैसे ही सच्ची विनयके अनेक रूप होते हैं, और उन्हींके द्वारा मिथ्या विनय दर्शायी जाती है, पर छाया होनेसे फल-फूल नहीं सकती, लोक-संग्रहमें सहायक नहीं होती। नेतृत्वकी राहपर एक क़दम नहीं चल सकती।

फलदार वृक्ष झुकते हैं, मगर किसको? उस गुण-सम्पन्ना भू-माता-को जिसने उन्हें जन्म दिया, पाला-पोषा, बड़ा किया और फल-फूल दिये। उसी तरह सम्यक् विश्वासी अनेक गुण-फलोंसे लदा हुआ अपने-आप झुकता है। मगर किसको? उन गुणियोंको जिनकी वह उपज है, उन गुणोंको जिनका वह पारखी है, और है संग्राहक। यही झुकावट विनय नामसे पुकारी जाती है। स्पष्ट है कि यह विनय कितनी कामयाब है, पर इसे अप्राप्य भी कहना चाहिए। यही कारण है कि इस दुनियामें सच्चे नेताओंका अकसर टोटा रहा है, है और बना रहेगा, यही कारण है कि जन-साधारण, मालूम तो ऐसा होता है कि वह दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक़्क़ी कर रहा है,

पर उसकी तरक़्क़ीका महल तो बालूके टीलेपर खड़ा मालूम होता है। अगर उसकी बुनियाद आदमियतकी पथरीली धरतीपर होती, तो आज जो मार-धाड़, आपा-धापी, छीना-झपटी चल रही है, वह कहीं न दीख पड़ती। नक़ली विनय ही बालूका टीला है, जो किसी समय भी घमण्डका रूप ले सकता है। जिस तरह ज्वालामुखी भड़ककर बरसोंकी उन्नतिको मटियामेट कर सकता है, वैसे ही यह नक़ली विनयका टीला खिसककर हमारी उन्नतिके महलको धराशायी कर सकता है।

इस तरह नेता बननेका काम बेहद मुश्किल है और बहुत आसान भी, अगर किसीमें दृढ़ विश्वास जड़ जमा ले और विनय उसमें फूलने लगे। नेता बननेके लिए विनय इतनी ही परमावश्यक है जितना गर्भसे बाहर आये भ्रूणके लिए श्वासोच्छ्वास या देहधारीके लिए प्राण।

●

शील

शील शब्द कम वजनी नहीं। भारतने पंचशीलको जन्म देकर शीलके महत्त्वको और भी बढ़ा दिया है। फिर भी न जाने साहित्यिकोंको क्या बीमारी है, शील न बोलकर सुशील बोलेंगे। शीलकुमार नाम अटपटा-सा लगने लगा है। वह तो सुशीलकुमार ही होना चाहिए।

शील बहुत व्यापक शब्द है। 'अमुक आदमी शील स्वभावी है' यह कहकर यह बताना है कि उस आदमीमें अनेक गुणोंका समावेश है। अर्थात् वह सच बोलता है। किसीको नहीं सताता, चोरीसे दूर है, ब्रह्मचारी है, अपरिग्रही है इत्यादि। ऐसा शील-गुण किसीको यों ही प्राप्त हो जाये यह असम्भव नहीं, तो मुश्किल काम ज़रूर है, क्यों?

बालक अगर कुशीलवान् जन्म नहीं लेता, तो शीलवान् भी पैदा नहीं होता। बालकको कुशीलवान् कहते हुए हमें डर नहीं लगता और उसे ऐसा कहना मिथ्या चाहे न भी हो, सत्य हरगिज़ नहीं हो सकता, कारण यह कि कुशीलवान् उसे कहा जाता है जिसे असत्य, हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इत्यादिका ज्ञान हो। दूध पीते बालकको ऐसा ज्ञान होता है, यह कोई भी स्वीकार नहीं करेगा।

पशु-पक्षी आदमीकी तरह बोलना नहीं जानते, इसलिए उनके सच बोलनेका सवाल ही पैदा नहीं होता। उन्हें सत्यवादी न कहा जाये, तो सच्चा भी नहीं कहा जा सकता, वे स्वभावसे ही चालाक होते हैं। उनके आचरण सत्यके विपरीत होते हैं। चालाकीका सत्यसे दूरका भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो असत्यका भी दूसरा पहलू नहीं है। वह तो मिथ्याकी ही सहोदरा हो सकती है। ऐसे चालाक और मिथ्याचरणी पशु-पक्षी भी

मिथ्यावादी मनुष्यसे ऊँचे समझे जाते हैं, समझे जाने चाहिए और समझे जाते रहेंगे। कारण यह कि वे अज्ञानी हैं। इसके विपरीत मनुष्य ज्ञानी है। वह जान-बूझकर मिथ्या सोचता है, बोलता है और आचरण करता है।

पशु-पक्षियोंका जिस तरह मिथ्याचरण सीमित है, उसी तरह दूसरों-को सताना भी सीमित है। उनकी हिंसा प्रायः सीमाका उल्लंघन नहीं करती, पर आदमीकी हिंसाकी सीमा नहीं। हम कुछ पशु-पक्षियोंको हिंस्र संज्ञा देते हैं। हमने अपनेको मापदण्ड मानकर शेरों, भेड़ियों और बाज पक्षियोंको हिंस्र संज्ञा दी है। वास्तवमें उन्हें हिंसक कहना ठीक नहीं, क्योंकि वे अज्ञानी हैं। मनुष्य हिंसाको समझता है, वह अगर अण्डे भी खाये तो भी हिंसाका भागी समझा जायेगा; क्योंकि वह ज्ञानी है। ज्ञानी ही नहीं, नीतिका स्रष्टा है। महान् अस्तित्व (भगवान्) का जन्मदाता है। उसीको उसने आदर्श माना है। जिन गुणोंका उसमें समावेश किया है, उनका अधिपति उसे स्वयं बनना है। पशु-पक्षी न ऐसा सोच सकते हैं न ऐसा कर सकते हैं।

पशु-पक्षी चोरी करते हैं, डाका भी डालते हैं। पर उन्होंने चोरी-डाकेकी कोई परिभाषा नहीं बनायी। इसलिए वे न चोर हैं, न डाकू। उनके यहाँ न कचहरियाँ हैं, न जेलखाने। फाँसीके फन्देकी उन्हें सूझ ही नहीं। इलक्ट्रोक्यूशन यानी बिजली मार या पोटेशियम साइनाइडेशन यानी साइनाइड दवा मारके तो उन्हें स्वप्न भी नहीं आ सकते। चोरी और डकैती-जैसे जुल्मोंका कर्ता और भागी तो मनुष्य ही हो सकता है; क्योंकि वह ज्ञानी है। वह विधान बनाना जानता है। उसके पास मनु आदिकी स्मृतियाँ हैं। उसके पास धर्मशास्त्र है। वह कणकी चोरी करे या कणका डाका डाले, तब भी दण्डनीय समझा जाना चाहिए, समझा जाता भी है, और उस वक़्त तक समझा जाता रहेगा, जबतक वह यह न जान ले कि उसके अन्दर पवित्रतम निष्पाप आदमी भी निवास करता है।

ब्रह्मचर्यके मामलेमें पशु-पक्षी आदमीसे साफ़ बढ़े दिखलाई देते हैं। शेरसे लेकर कुत्ते और गधे तकको ब्रह्मचारी संज्ञा दी जा सकती है। पक्षियोंमें मोर तो सदा ब्रह्मचारी नामसे पुकारा जाता है, पर सब पशु-पक्षी जुफ़्तीकी ऋतुमें यानी मेटिंग सीजनमें पागल हो उठते हैं, पतिततम अवस्थाको पहुँच जाते हैं; सब सीमाएँ लाँघ जाते हैं। फिर भी उनसे ब्रह्मचारी पद नहीं छीना जा सकता। अव्वल तो वे अज्ञानी हैं। अज्ञानी होते हुए भी ऋतु छोड़ अन्य ऋतुमें उनमें-से एक प्रतिशत या एक प्रति हज़ारको भी आसानीसे न बहकाया जा सकता है, न उकसाया जा सकता है। इसके विपरीत चौपाये नामसे पुकारे जानेपर या उल्लू सम्बोधनपर बिगड़ बैठनेपर दुपाया आदमी न ऋतुका पाबन्द है, न सम्भोगकी कोई सीमा बाँध पाया है। उसने तो इस कलापर शास्त्र लिख डाले हैं। अभंग-क्रीड़ा तककी सृष्टि कर डाली है। वह मन-वचन-काय सभी रीतियोंसे ब्रह्म-चर्य नष्ट कर सकता है।

यों तो मोर सदा ब्रह्मचारी है, पर सुनते हैं वह मोरनीसे आँख लड़ाकर जुफ़्तीका आनन्द ले लेता है और आँसू गिराकर हो औलाद उत्पन्न कर लेता है। आदमी भी इस कलामें निपुण हो गया है, पर मोर-की तरह वह कभी औलाद पैदा कर सकेगा, इसकी वह स्वप्नमें भी कल्पना नहीं कर सकता। आदमीकी मूर्खताएँ और मूर्ख कल्पनाएँ बेशक निस्सीम हैं, पर उसका ज्ञान ससीम है और ससीम ही बना रहेगा। सर्वज्ञ और सर्वज्ञताकी डींग हाँकनेकी बेशक उसे छूट रहेगी। हाँ, तो आदमी ब्रह्म-चारी कभी कहला सकेगा या नहीं, यह कहना कठिन है। क्योंकि आदमी-के मनको दूसरा आदमी भी नहीं जान सकता। जब स्वप्नमें भी ब्रह्मचर्यको पछाड़ा जा सकता है, तब किसी मनुष्यको ब्रह्मचारी कहना या पूर्ण ब्रह्मचारी कह बैठना अपने-आपको धोखा देनेके सिवा क्या हो सकता है? सचमुच हाथका सच्चा होना जितना आसान है, उतना लंगोटीका सच्चा होना आसान नहीं। और यही वह गुण है जिसपर शीलका महल खड़ा

किया जा सकता है और उसे गगनचुम्बी बनाया जा सकता है।

पशु-पक्षी स्वभावसे ही अपरिग्रही होते हैं। आदमियोंमें तरह-तरहके मिलेंगे। कुछका कहना है बुद्धिमान् वही "जिसे हो आज ही से फ़िक्र कलकी।" कुछका कहना है—"अजगर करै न चाकरी, पंछी करे न काम, दास मलूका कह गये, सबके दाता राम।" पक्षी राम भरोसे रहते हैं। इस बातको दास मलूका जाने या राम जानें, पर वे अपने दो पाँव और चोंचके बलपर जरूर रहते हैं। बहुत सवेरे ही उठते हैं और दिन-भर अपनी कमाईका ही खाते हैं। मेहनत ज्यादा करते हैं, खाते कम हैं। उन्हें साधु संज्ञा दी जा सकती है। यही हाल चौपायोंका है। इन्हें कम खाकर ज्यादा मेहनत करनेकी आदत न होती तो क्या आदमी गाय, भैंस, बकरी पालता या हाथी, ऊँट, घोड़े रखता? या कुत्तेको अपने दरवाजेपर लेटने देता या भेड़ोंको जंगलोंमें चराता फिरता? पिंजड़ेमें बन्द मैनाकी कहानीसे किताबोंके पन्ने रँगे मिलेंगे। तोता भी भूले-भटके मैना-जैसे काम कर जाता है। पर दिन-भर घर-भरका मन बहलानेमें कोई कसर नहीं रखता। और खाता है मुट्ठी-भर चनेकी दाल और कभी-कभी एकाध हरी मिर्च। पशु-पक्षी रामकी हक़ीक़तको ख़ूब समझते हैं। जोरके पानीके बौछारमें अपने सैकड़ों हजारों भाइयोंको मरते देखकर अगर उन्हें बोलना और लिखना आता होता तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी दयालुता (?) पर करोड़ों पन्ने रँग डालते। अच्छा ही हुआ कि वे आदमीके बनाये उस महान् अस्तित्व (सुप्रीम बीइंग) से अपरिचित हैं और अपने हाथ-पाँवपर ही भरोसा करते हैं। भू-कम्प और ज्वालामुखीके उभारमें बहुत कम ही प्राण देते हैं। अपनी चल-अचल सम्पत्ति तो बिलकुल नहीं गँवाते। राम भरोसेका गुणगान करनेवाले दास मलूका भी घर बनाकर रहते होंगे। चिड़ियाँ-कौवोंकी तरह बारह महीनेवाले घरसे कभी परहेज न करते होंगे। ख़ैर, इसे छोड़िए।

आदमी जब बालकके रूपमें जन्म लेता है, तो अपरिग्रही पैदा होता है।

उसे बनाया तो तुरन्त परिग्रही जाता है, पर वह अपरिग्रही ही बना रहता है। क्योंकि उसे ज्ञान नहीं होता। वह कपड़ेको कपड़ा नहीं समझता, पैसेको पैसा नहीं मानता। इसलिए परिग्रहका सवाल ही नहीं उठता। इसके विपरीत आदमी आगे-पीछेकी कई-कई पीढ़ियोंकी सोचता है। मरे हुओंकी यादगारें खड़ा करता है, न पैदा हुओंके लिए मकान खड़े करता है। और अगर कोई जोशमें आकर घर परिग्रहको अपरिग्रह कोटिमें डाल देता है तो आश्रम नामी या मठनामी घर खड़े कर लेता है। ममता और मामता एकार्थवाची हैं। इनका बीज है माँ। वही माँ ममताके रूपमें बालकमें परिग्रहका बीज बोती है। उससे बच भागना कितना कठिन काम है, इसका अन्दाजा लगाया जा सकता है। यह ममता ही समाजको चिपकाये रखनेमें बड़े कामकी सिद्ध हुई है, पर यही ऊपर उठनेमें सबसे ज़्यादा बाधक सिद्ध हुआ करती है। जिसे नेतृत्व पदपर व आगे बढ़नेका शौक हो उसे परिग्रहकी असलियतको समझना होगा और अपरिग्रही होनेका प्रयत्न करना होगा।

अब पाठकोंकी समझमें आ गया होगा कि शीलसे हमारा क्या अभिप्राय है। और शीलवान् होना कितना कठिन कार्य है। पर यह महान् कठिन कार्य उसके लिए बेहद आसान हो जाता है, जिसमें सत्य-श्रद्धा जाग गयी होती है और जिसके सत्य-श्रद्धा वृक्षमें विनयके फल लग गये होते हैं। विनय-सम्पन्नता शीलको ऐसे अपना लेती है, जिस तरह कली फूल बननेपर गन्धको या बालक पैदा होनेपर श्वासोच्छ्वासको या लड़की विवाह होनेपर लज्जाको।

सत्य-श्रद्धा जगाओ

यह ठीक है कि शीलवान् कोई पैदा नहीं होता, पर यह भी याद रहे कि प्रत्येक मनुष्य शीलगुणसहित ही पैदा होता है। पर जिस तरह वह पाला-पोसा जाता है और जिन सोहबतोंमें होकर उसे निकलना

पड़ता है, उन सब कारणों और संसर्गोंसे शीलगुण मलिन हो जाता है। यह मलिनता दिनोंदिन बढ़ती रहती है। अन्ध श्रद्धा इस मलिनताके बढ़ानेमें बहुत बड़ा कारण सिद्ध होती है। बचपनमें जो कुछ हमें माँसे मिलता है, वह सब अन्ध श्रद्धाका रूप ले लेता है। धर्म और पन्थके गुरुओंसे जो हमारे पल्ले पड़ता है, वह अन्ध श्रद्धाका रूप लिये बिना नहीं रह सकता। हमारा स्वतन्त्र सोचा हुआ हमारे पास कुछ होता ही नहीं। हमारी अपनी ज्ञानकी कसौटीपर कसा हुआ भी हमारे पास कुछ नहीं होता। महावीर और बुद्धके बारेमें यह दन्तकथा चली आ रही है और उसने ग्रन्थ-कथाका भी रूप ले लिया है कि अमुक दिन अमुक पेड़के नीचे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। यह निश्चित तिथि और निश्चित स्थान ठीक है या नहीं, इससे हमें कुछ लेना-देना नहीं। यहाँ तो हमें इतनी सचाईसे काम है कि उन्हें ज्ञान हुआ यानी उनमें सत्य-श्रद्धा जागी। उन्हें ठीक-ठीक दर्शन हुआ, जिसे आप चाहें तो साक्षात्कार भी कह सकते हैं। और यह सब हुआ उस वक़्त जब उन्होंने अपने सारे अन्धविश्वास उठाकर फेंक दिये....ईश्वरके विश्वास तकको उन्होंने धता बताया। अपने ज्ञानसे जो खरा-खोटा जाना उसीपर विश्वास किया। वही विश्वास निर्मल होता गया, उसीने उन्हें विनय-सम्पन्न और शील-सम्पन्न बना दिया। याद रहे वे सिरसे पैर तक तुम ही-जैसे थे, वे न अवतार थे, न देवता, न अति मानव। बिलकुल तुम-जैसे साधारण आदमी थे, इसलिए शीलवान् बननेमें तुम्हें उनका अनुकरण करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी। अगर तुममें सत्य श्रद्धा जाग गयी है यानी अगर तुम्हें अपने ज्ञानकी कसौटीपर हर सचाईको परखनेकी आदत हो गयी है और विवेक करना आ गया है।

अब कहिए आप अपनेको माननेके लिए तैयार हैं? अपने ज्ञानपर भरोसा करनेके लिए तैयार हैं? अपनी सब श्रद्धाओंको परखनेके लिए तैयार हैं? यदि हाँ, तो आप सत्य श्रद्धानी बनकर विनय-सम्पन्न होकर बिना प्रयासके शीलवान् हो जायेंगे। और जहाँ उसका रस चखा कि आगे-

का रास्ता आप किसीसे पूछेंगे नहीं, उलटा दूसरोंको बताने लगेंगे। और यही काम तो नेता करते हैं।

अनेक-शील-सम्पूर्णं व्रत-पञ्चक-संयुतम्।
पंचविंशति-क्रिया यत्र तच्छीलव्रतमुच्यते॥

ज्ञानोपयोग

होना तो 'ज्ञान' ही चाहिए था, पर 'ज्ञानोपयोग' शीर्षक हम जान-बूझकर दे रहे हैं, सोच-समझकर दे रहे हैं। 'ज्ञानयोग' से भी हम सोच-समझकर बच रहे हैं। असलमें जीवमात्र ज्ञानसे खाली नहीं और ज्ञान-योगसे कोई मनुष्य खाली नहीं। ज्ञानोपयोग ऐसी चीज़ है, जो हर-एकको प्राप्त नहीं। इसके लिए सत्य-श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है। वही सत्य-श्रद्धा जिसमें विनय-सम्पन्नताके फूल खिलते हैं, जिसमें शीलके रसपूर्ण फल लगते हैं, उसी फूलकी गन्ध और उसी रसका स्वाद ज्ञानोपयोग नाम पाता है।

ज्ञानोपयोग स्वभाव है

ज्ञानोपयोग बाहरकी चीज नहीं है। यह तो हरएक आदमीके अन्दर ही मौजूद रहता है। अबतक जितने गुण हमने गिनाये हैं, सभी हम सबके अन्दर मौजूद हैं। मुश्किल इतनी ही है कि हमारी श्रद्धा मिथ्या श्रद्धा बनी हुई है, विनय कुविनय, शील कुशील और ज्ञान अज्ञान। जिस तरह दीपकका प्रकाश हरे कांचमें होकर हरा, लाल कांचमें लाल दिखाई देता है या जिस तरह अग्निके संसर्गसे ठण्डे स्वभाववाला जल गरम हो जाता है या जिस तरह आदमीका अपना गुण बाह्य निमित्त पाकर क्रोधका रूप ले बैठता है, वैसे ही श्रद्धा बाह्य निमित्तोंसे अन्धश्रद्धा बन बैठती है या श्रद्धा बनी रहती है। इसलिए उससे लगे हुए शेष गुण भी कुछके कुछ हो जाते हैं। नेता बननेवालेके लिए इन सब बारीकियोंका ज्ञान अत्या-वश्यक है। 'ज्ञान अत्यावश्यक है' यह तो हम कहनेके लिए कह रहे हैं, उसे इन बारीकियोंका ज्ञान होता ही है।

ज्ञानोपयोगसे हमारा मतलब ज्ञानकी विशुद्धता, ज्ञानके पैनेपन और ज्ञानकी गहरी पैठसे है। यह सच्चे विश्वासीको विना श्रम प्राप्त हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि उसे मानवमात्रसे नहीं, प्राणीमात्रसे प्रेम हो उठता है। वात्सल्य जाग जाता है। इस जाग्रतिके कारण वह तीन तरहके ध्यानोंसे बच जाता है जो ज्ञानोपयोगमें बाधक होते हैं। उन तीन तरहके ध्यानोंका भी संक्षेपमें यहाँ वर्णन किये देते हैं।

तीन ध्यान

एकको समझिए 'दुर्ध्यान' ऐसे ध्यानमें मनुष्य उस समय तल्लीन हो जाता है, जब वह अपनी मूर्खता और जल्दबाजीके कारण अपना दुश्मन बन बैठता है। और तन, वचन से नहीं ध्यानके द्वारा केवल मनसे उनका संहार करता रहता है। जब मन बैठा इस तरहके युद्धमें फँसा रहता है, तब वह 'ज्ञानोपयोग'में कैसे लग सकता है?

दूसरेको समझिए 'स्वार्थ ध्यान' इसमें यह होता है कि वह तन, वचनसे न लगकर मनसे ही अपनोंके लिए वस्त्र जुटाता रहता है, महल खड़े करता रहता है और भोजन भण्डार भरता रहता है। इससे मनको कभी छुट्टी ही नहीं मिलती। वह यह समझ ही नहीं पाता कि संसारकी रचना क्या है? क्यों है? किसलिए है? इसमें उसका क्या स्थान है? उसका कर्तव्य क्या है? इत्यादि। इसमें फँसे रहनेके कारण वह ज्ञानो-पयोगसे दूर रहता है।

तीसरा है 'परार्थ ध्यान'। यह सुनने-समझनेमें अच्छा मालूम होता है, पर सत्य-श्रद्धा न होनेके कारण यह नशेका रूप ले लेता है। इसमें लोगों या समाजवादियों (कम्युनिस्टों) का कोई क़सूर नहीं है जो वे धर्मको अफ़ीम और धर्मध्यानको अफ़ीमका नशा कहते हैं। अफ़ीम, अफ्यून या ओपियम तो कुछ घण्टों ही मनुष्यको नशेमें रखती है, उसका नशा उतर जाता है; पर धर्मका नशा तो उतरता ही नहीं। यह तो रग-रगमें अपना

राज्य जमा कर बैठ जाता है। किसी काममें नहीं लगने देता। इस तरहका परार्थध्यानी मन-ही-मन लोगोंकी भलाई सोचा करता है, उसमें इतना लग जाता है कि समाधिस्थ हो जाता है। समाधि लगनेका केवल इतना ही अर्थ है कि मनुष्यका मस्तक देहको भुला बैठे, ऐसा बेहोश होने-पर भी हो जाता है। क्लोरोफ़ार्म सूँघनेपर भी ऐसा होनेसे उसके ध्यानमें रत्ती-भर अन्तर नहीं पड़ता। वह इसी तरह मनके लड्डू फोड़ता रहता, हवाई महल बनाता रहता है, रेशमी थान और पश्मीना तैयार करता रहता है। यहाँतक बुरा नहीं, क्योंकि वह केवल अपना नुकसान कर रहा होता है। बुराई तो यह है कि नशेके उतरनेपर वह जनकल्याणके उन सब कार्योंको अपना कार्य समझने लगता है जो कहीं भी किसीने किये होते हैं। उसकी हालत उस कुत्ते-जैसी हो जाती है जो गाड़ीकी छायामें गाड़ीके नीचे चलकर यह समझता रहता है कि वही गाड़ी खींच रहा है या उसीके बलपर गाड़ी चल रही है। रहे उसके चेले-चपेटे, वे इस समाधिको ले उड़ते हैं, उसके शब्दको प्रमाण मानते हैं, उसके सिद्ध पुरुष होनेका प्रचार करने लगते हैं। यों कर्मयोग हार मानकर प्रवृत्तिसे निवृत्तिमें कूद पड़ता है। इसलिए धर्म-ध्यान या परार्थ-ध्यान नेताके लिए हेय होना चाहिए। होना क्या चाहिए, नेता कभी इस तरह निकम्मा बनकर बैठता ही नहीं। नेता तो ग्रहकी तरह बारहों महीने चौबीसों घण्टे कर्ममें रत रहता है।

विशुद्ध ध्यान

चौथा ध्यान है विशुद्ध ध्यान। इसीका नाम है ज्ञानोपयोग। ध्यान तो यह कहनेके लिए है, क्योंकि यह वचन और कर्मके साथ-साथ रहता है। इसीलिए इसे ध्यान न कहकर कर्म या आचरण ही कहना पड़ेगा। ज्ञानके साथ लगा उपयोग शब्द ऐसा ही है, जैसा जीवको चेतन कहना। चेतना कर्मका ही दूसरा नाम है।

ज्ञानोपयोग कुशाग्र होता है। उसकी पैठ बहुत गहरी होती है।

निर्मल होनेसे असलियत उसके हाथ लगती है। वह निश्चय तक पहुँच जाता है। जर्मनीके दार्शनिक नीट्शेको हमने बड़े चावसे पढ़ा था। हमारे एक मित्र उसे नीट्शे न कहकर निश्चय कहा करते थे। उनके मुँहसे यह शब्द हमें बड़ा अच्छा लगता था। वह दार्शनिक सचमुच बहुत गहरा गया है। हाँ, तो यह ज्ञानोपयोग हमारी विचार-शक्तिको निश्चयकी बुनियादपर खड़ा कर देता है। यों ज्ञानोपयोगीका व्यवहार-महल ऊँचेसे ऊँचे जाकर भी अडिग और अटल खड़ा हो जाता है।

ज्ञानोपयोगी कर्मठ होता है

ज्ञानोपयोगी कर्मठ होना ही चाहिए। होता ही है। नेतृत्व गुफाओंमें बैठकर नहीं होता। कर्मठ होनेके कारण नेताके सारे कार्य ऐसे हो सकते हैं, जिनपर कुछ लोग अँगुली उठा सकते हैं। संसारका व्यवहार दोष-रहित नहीं हो सकता। उसका दोष-रहित होना ही दूषण समझा जायेगा। दोष-सहित होना ही उसका भूषण है। इससे किसीको इस परिणामपर नहीं पहुँचना चाहिए कि दोष-सहित होना ज्ञानोपयोगका लक्षण है, वह लक्षण नहीं है। वह परिस्थितियोंकी देन है। ऐसा हो सकता है कि एक आदमी बिलकुल कुध्यानी हो, स्वार्थध्यानी हो और उसके कार्य विशुद्ध-ध्यानीकी अपेक्षा कम दोष लिये हों, पर इससे वह न नेताका पद पा सकता है, न उसे समझदार समाज अपना नेता मान सकता है। मतलब यह कि कार्योंसे नेताकी जाँच नहीं होती। उसकी जाँच उसकी नियतसे होती है। यह कहकर हम यह बिलकुल नहीं कहना चाहते कि अच्छे अन्तसे बुरे साधन भी अच्छे मान लिये जाते हैं। अर्थात् 'ऐण्ड जस्टीफाईड मीन्ज' क्योंकि हम पहले ही कह चुके हैं कि कुछ लोग उसके कामोंपर अँगुली उठा सकते हैं।

नेताका मुख्य कार्य

नेताके लिए मुख्यतम कार्य होता है—जन-मनको पढ़ लेना और

समझ लेना। यानी मॉब साइकॉलॉजीका पण्डित होना। यह पाण्डित्य इसे सत्य श्रद्धान बिना प्रयास प्राप्त करा देता है।

आदमी जब भीड़में इकट्ठे होते हैं, तो उनके मन कुछ और ही हो जाते हैं। उनके अलग-अलग मन ऐसे बहने लगते हैं जैसे नदीकी बीच धारमें पड़ा हुआ तिनका। उस भीड़में-से नेता ऐसे ही चमक उठता है या चमकता दिखाई दे सकता है जैसे, धूलमें पड़ा हुआ रत्न या कीचड़में पड़ा हुआ कंचन, या अँधेरेमें-की चिनगारी। हम इस बातको कविताकी भाषा-में लिखकर नहीं रह जायेंगे। इसको बिलकुल साफ़ कर देंगे। वह यह है कि भीड़ जिन विचारोंमें डूबकर जिस ओर बह रही हो, उसमें जो कोई एक-दो ऐसे हों जो उन विचारोंमें न डूब पायें और भीड़के साथ न बह जायें, वे ही एक-दो नेता होनेके योग्य हैं। या यों कहिए कि उनमें नेतृत्व अंकुरित होनेवाला है। ये ही हैं वे रत्न, ये ही हैं वे कंचन और ये ही हैं वे चिनगारी जिनकी बात हमने अभी कही।

नेताकी पहचान

आप घरपर बैठे भी नेताकी परीक्षा कर सकते हैं। नेतृत्व बालक-बालकमें निहित है। नर-नारी सबमें मौजूद है, पर अंकुरित और प्रस्फुटित किसमें होनेवाला है, इसकी पहचान—कसौटी यह है कि रामायण या महाभारतमें-से या किसी अच्छे उपन्याससे ऐसा स्थल निकालकर पढ़िए कि जिससे मन करुणारसमें भींगकर नेत्रोंके द्वारा अपना रूप दिखा सके। बस जो मन आपके पाठसे प्रभावित न हो और अपनी आँखें गीली न करे उसे ही समझिए कि वह नेता बननेकी पात्रता रखता है। सिनेमामें भी इसी तरहकी परीक्षा की जा सकती है। याद रहे कि वैसा ही दृश्य अगर वास्तवमें घरमें या सड़कपर कहीं घटित हो जाये और फिर भी कोई व्यक्ति अप्रभावित बना खड़ेका खड़ा रह जाये तो वह भी नेता बननेके योग्य नहीं। अप्रभावितसे हमारा मतलब यही है कि उस समय

जो भी चेहरा बिगाड़े बिना न्यायको प्रतिष्ठापित करता है या उसके लिए प्रयत्नशील होता है वही नेता बननेकी पात्रता रखता है। ज्ञानोपयोग इसी योग्यताको मांज देता है। इसीलिए ऐसी मँजी हुई आत्माओंको बिगड़ी हुई भीड़को शान्त करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती। वे बेफ़िक्रीके साथ चलती हुई लाठियोंमें ऐसे कूद पड़ते हैं, जैसे जलती हुई आगमें पानी-की धार।

सत्य-श्रद्धाके बलपर प्राप्त किया ज्ञानोपयोग ग्रन्थोंकी तहमें बड़ी जल्दी प्रवेश करता है। बहुत जल्दी उसे इस बातका पता लग जाता है कि ग्रन्थकार क्या कहना चाहता है, क्या-क्या कह गया है, क्या छोड़ गया है और क्या कुछका कुछ कह गया है। ज्ञानोपयोगवाला दस मिनिट-में आदमीको पहचान लेगा। यह हम नहीं कह रहे कि वह धोखा नहीं खायेगा। धोखा खाना तो आदमीका काम है।

ज्ञानोपयोगी अन्दर बिलकुल शान्त रहता है। तूफ़ानसे आन्दोलित सागर जैसे नीचे शान्त रहता है, वैसे ही वह ऊपरसे उछलता हुआ अन्दर असलियतकी जाँच कर रहा होता है। समुद्र उछल नहीं रहा होता है। उसे तूफ़ान उछाल रहा होता है। इसी तरह योग्य नेता उछल नहीं रहा होता। उसे परिस्थितियाँ उछाल रही होती हैं, जब कि मामूली आदमी उछल रहा होता है। उसका मन बाहरसे ज्यादा आन्दोलित हो रहा होता है। कवियोंने इसका दृश्य तो बड़ा सुन्दर खींचा है और ठीक-ठीक खींचा है, पर उनके बारेमें यह कह बैठना बेहद कठिन है कि यह काव्य-रचना उनके अनुभवकी देन है। अस्तु! हमें इससे क्या लेना-देना। हम तो इस समय यह बताना चाहते हैं कि हम जो कह रहे हैं उसकी सीधी-साधी परख क्या है? परख यह है कि जो पाक-क्रियामें पटु है वह माँ अपनी बेटीसे होती हुई भूलपर बैठी-बैठी ही शोर मचायेगी-उछलेगी, पर जगह नहीं छोड़ेगी। क्योंकि उसे मालूम है कि उस भूलका परिणाम भयानक नहीं होता। वह भूल मामूली है। आये दिन हरएकसे होती रहती है। और

अपने-आप ठीक हो जाती है। जब कि अपटु माँ अन्दर-बाहर खूब बिगड़ रही होगी। ऐसे अनुभव हम सबमें-से हरएकको होते हैं। हमें इसमें-से सार इतना ही लेना है कि सत्य-श्रद्धान सत्य ज्ञानपर टिका होता है। इसलिए सत्याचरण या सत्य-कर्म अपने-आप उसका परिणाम होता है और फिर वह अपने-आप गाम्भीर्य लिये होगा, शान्ति लिये होगा। इसी तरहके लोग 'क्रान्तिमय शान्ति या शान्तिमय क्रान्ति' पदको जन्म देते हैं।

पाठकोंने समझ लिया होगा कि ज्ञानोपयोग नेता बननेके लिए कितना आवश्यक गुण है। उसके प्राप्त करनेमें कितनी कठिनाइयाँ आयेंगी। फिर भी वह प्राप्त हो सकेगा या नहीं, पता नहीं। पर हम यह विश्वास दिलाते हैं कि यह गुण अपने सिलसिलेमें और गुणोंके साथ इसी तरह खिंचा चला आता है जिस तरह रस्सी एक छोर पकड़नेपर अपने-आप खिंची चली आती है। विनय और शील इस गुणको और चमका देते हैं और इस तरह अपनेमें एकमेक कर लेते हैं जिस तरह दूध-पानी।

कहिए आप नेता बननेको तैयार हैं? यदि हाँ, तो बस केवल दृढ़ रहिए। अपने सच्चे श्रद्धानपर, अपने सच्चे विश्वासपर और उसीपर छोड़ दीजिए ज्ञानोपयोगकी चिन्ता।

काले पाठः स्तवो ध्यानं शास्त्रे चिन्ता गुरौ नतिः।
यत्रोपदेशना लोके शास्त्र-ज्ञानोपयोगिता॥

सन्तोल

आदमी है, पर आदमियत कहाँ है ? सचमुच आदमियत बड़ी अनोखी चीज है। तभी तो वह देखनेको कम मिलती है। इसके बिना नेता कैसा ? हम जिस नेताकी बात कह रहे हैं, वह वह नेता नहीं जो दिग्विजयके लिए निकल खड़ा होता है। हमारा मतलब ऐसे नेतासे है जो सचाईका मस्तक ऊँचा कर जाता है। जो भलमन्सीकी चाह पैदा कर देता है। जो प्यार-मोहब्बतके सूत्रमें समाजको बाँध जाता है। जिसे आदमी ही नहीं याद रखते, पशु-पक्षी तक याद रखते हैं। 'सत्त्वेपु मैत्री' उसका स्वभाव बन गया होता है और इसीको बीजमन्त्रके रूपमें वह अपने सहगामियोंके कानमें फूंक जाता है। इस आपसमें लड़ने-झगड़नेवाली दुनियाको प्रेमका पाठ सिखा जाता है।

नेताका स्वभाव

'सत्त्वेपु मैत्री' यानी प्राणीमात्रसे जिसकी मित्रता नहीं है, वह उस मानव-जातिका भला नहीं कर सकता, जो तरह-तरहकी उच्चाकांक्षाओंका स्रोत और भण्डार है। ऐसी उच्चाकांक्षाएँ समय-समयपर साहसी मनुष्योंमें ज्वालामुखीकी तरह हिंसाका लावा फेंकने लगती हैं। लूट-पाटकी आग उगलने लगती हैं। और दुःखी जगत्को और भी दुःखी बनाती रहती हैं। अचरज तो यही है कि ऐसी आत्माएँ भी नेता नामसे विभूषित की जाती हैं और राजा कहकर पुकारी जाने लगती हैं। राजे और महाराजे और इसी तरहके दूसरे लोग भी नेताओंमें गिने जाने लगते हैं। वैसे नेता बनने-बनानेकी बात हम यहाँ लिखने नहीं बैठे हैं। यह ठीक है कि ऐसे

नेताओंमें भी किसी-न-किसी अंशमें उन सब गुणोंका समावेश रहता है, जिनको हम अबतक बता चुके हैं और जिनपर आगे प्रकाश डालेंगे। पर उनमें 'सत्वेषु मैत्री'की भावना बहुत कम होती है या नहीं होती। वे आदमियोंकी मित्रता-भरमें विश्वास रखते हैं। कभी-कभी उनका वह विश्वास भी संकुचित होकर जागतिककी जगह दैशिक रह जाता है। देश-प्रेम अच्छी चीज़ है, पर तब ही, जब वह जगत्-प्रेमका आदर्श लिये हुए हो। याद रहे देश-प्रेम स्वयं आत्म-प्रेम और आत्मीय प्रेमका पौधा होता है। जिसे अपने कुटुम्ब, अपने बन्धु-बान्धवोंसे प्रेम नहीं, वह न देशाभिमानी हो सकता है, न देश-प्रेमी। इस तरहकी संकुचितता अगर देशको स्वाधीन भी कर जाये तो उससे न देशका भला होता है न देशवासियोंका। जगत्के भलेकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस तरहके संकुचित नेताओंमें भी मैत्री तो मिलेगी, पर उचित सन्तोल न मिलेगा। यह उन्हीं नेताओंमें पाया जाता है, जो दुनिया-भरकी भलाईमें लगते हैं।

सन्तोल

सारे जगत्की भलाई न कभी कोई कर पाया, न कर सकेगा। पर ऐसे आदर्शके बिना हमारे जीवनका सन्तोल क़ायम नहीं रह सकता। हमारी जीवन-तुलाकी डण्डीका मध्य भाग जगत्-प्रेम ही है। उसीको सँभाले रखनेसे हमारे जीवनके बुरे-भले दोनों पलड़े ऊँचे-नीचे नहीं हो पाते। इनमें-से किसी भी एकके ऊँचे-नीचे होनेसे नेताका ही सन्तोल नहीं बिगड़ता, दुनियाका सन्तोल बिगड़ जाता है। दुनिया-भरमें उथल-पुथल मच जाती है। भारतका इतिहास ही नहीं, सारी दुनियाका इतिहास इसी तरहके नेताओंका इतिहास है। कुछ दिनोंसे इतिहासमें ऐसे नेताओंको जगह मिलने लगी है, जिनका आदर्श दिग्विजय न होकर मानव-मन-विजय था। पर इतिहासमें जो जगह उन्हें मिली है, वह इतनी थोड़ी है कि वे राजाओंमें दबकर रह गये हैं। कहीं-कहीं तो वे राजा ही बना दिये गये

हैं। इस कारण वह अभीष्ट सिद्ध नहीं हो पाया, जो हम चाहते हैं। हाँ, तो हम आपको राजनेता नहीं बनाना चाहते। हम तो धर्म-नेता या नीति-नेताके रूपमें ही आपको देखना चाहते हैं। पर जिस तरह पैसेसे विष भी खरीदा जा सकता है और अमृत भी, वैसे ही नेता बननेकी कलाके ज्ञानसे कुनेता और सुनेता दोनों ही बना जा सकता है। अगर कोई ज्ञानका दुरुपयोग करे यानी इस पोथीसे अपना उल्लू सीधा करे तो इसे हम अपना दुर्भाग्य ही समझेंगे, नेता तो पहले युद्धके विलियम कैसर और दूसरे महा-युद्धके हिटलर भी थे, पर वे जर्मनीको अपने बाद कैसा छोड़ गये और दुनियापर क्या छाप बिठा गये, यह किसीसे छिपा हुआ नहीं है। पौराणिक नेता वे भी थे, जो भारतका कुरुक्षेत्र युद्ध लड़ गये पर उस लड़ाईसे भारतका क्या हाल हुआ यह भी किसीसे छिपा नहीं है। हाँ, तो सन्तोलके सिलसिलेमें 'सत्त्वेषु मैत्री' की बातपर जो हम जोर दे रहे हैं, वह इसी-लिए कि वही सन्तोलको बनाये रखनेमें समर्थ है।

सन्तोल और संवेग

जीवमात्रकी भलाईका ध्यान हमारे उन वेगोंको क़ाबूमें रखता है, जो संग्रहीत होकर ज्वालामुखीकी तरह उफन उठते हैं। संवेगी होना और सन्तुलित होना एक ही बात है, फिर भी दोनों शब्दोंके अलग-अलग वाच्य हैं। सन्तोलमें संवेगका समावेश है। संवेगमें सन्तोल-का नहीं। संवेगका अर्थ है—अपनी इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना। जो आदमी अपनेको भला बनानेमें जुट गये हैं, उन्हें शायद ऐसा मालूम होने लगा होगा कि इन्द्रियाँ कुल पाँच ही तो हैं। इनका क़ाबूमें रखना भी क्या? यह सब बड़ी आसानीसे वशमें आ सकती हैं। पर उनका ऐसा समझना भूल है। ये इन्द्रियाँ बड़ी चालाक हैं। बड़ी जल्दी धोखा दे जाती हैं। इनके साधारण वेग और असाधारण वेगमें हम भेद ही नहीं कर सकते। इस भेदका पता लगानेके लिए प्राणीमात्रसे मित्रता जरूरी है।

इसीलिए तो हम इस गुणपर ज़ोर दे रहे हैं। आँखें क्याका क्या देख लेती हैं, कान क्याका क्या सुन लेते हैं। यही हाल नाक, जीभ और हमारी त्वचाका है। गरमी और ठण्ड बताना त्वचाका काम माना गया है। पर आँखोंके बिना त्वचाको वर्फका डला अग्नि-जैसा गरम प्रतीत हो सकता है और छाला भी पड़ सकता है। यह हम आँख देखी बात लिख रहे हैं। इसी तरह नाक बन्द करके और आँख बन्द करके प्याज़, प्याज़ समझे बिना खाया जा सकता है। प्याजका फ़ैसला नाक करती है, जीभ नहीं। यहाँ हम मनोविज्ञानपर पुस्तक लिखने नहीं बैठे। वह अलग पुस्तकका विषय है। यहाँ तो हम इतना ही कहना चाहते हैं कि इन्द्रियाँ बेहद धोखेबाज़ होती हैं। इनके थोड़े-से वेगको भी बेपरवाहीसे नहीं छोड़ना चाहिए। ये बड़ों-बड़ोंको धोखा दे देती हैं। फिर एक छठी इन्द्री भी तो है। वह छठो ही नहीं छटी बदमाश है। और वह है मन। उसके वेगको रोकना महा कठिन है। काम-वासनाके पीछे मनका ही वेग रहता है। काम-वासनामें सौ हाथियोंका बल माना गया है। उनका पछाड़ना कितना कठिन है। पर सत्य श्रद्धा और विनय-सम्पन्नतासे प्रेरित शील नामी शेरको देखकर यह सौ हाथियोंकी बलवाली काम-वासना सूँड़ मुँहमें दबाकर भद-भद गोबर करती हुई तुरन्त भाग खड़ी होती है। यह सब काम ही संवेग नाम पाता है। इस संवेगके लिए जगत्-प्रेम अत्यावश्यक है।

सन्तोल शान्तिका जनक

सन्तोल शान्तिका जनक है। यह भी कह सकते हैं कि सन्तोल और शान्ति एकार्थवाची हैं। नेताके लिए शान्ति अत्यावश्यक ही नहीं, उसका लक्षण है। अशान्त नेता नहीं बन सकता। नेताको तो शान्त नहीं, प्रशान्त होना चाहिए। उसकी अशान्तता बड़ा भयानक रूप ले सकती है। वह दुनियाकी भलाईकी जगह बुराईपर उतर आ सकता है। और तारीफ़ यह कि नेतृत्वको खोनेकी बात तो एक ओर उलटे चार

चाँद लगा सकता है; क्योंकि दुनिया आसानी पसन्द है, गिरावट पसन्द है, कठिनता पसन्द नहीं, उत्थान पसन्द नहीं। नेतापनेकी राहमें यह बहुत बड़ा खतरा है और बहुत बड़ी लालच है। इस ओर झुककर, मुश्किल तो यही है, नेताका कुछ भी नहीं बिगड़ता। वह तो उलटी डबल पूजा पुजाता है। अपने भक्तोंकी संख्या बढ़ा लेता है। पर जिस दुनियाको वह ऊँचाईकी जिस चोटीपर ले गया था, उससे उस ओर ढुलका देता है, जहाँसे गिरावट शुरू होती है। पर ढाल कम होता है और कुछ ही दूर जाकर एकदम सीधा ढाल आता है और दुनिया गढ़ेमें जा गिरती है। दुनिया गढ़ेमें जा गिरे यह बुरी बात नहीं। वह किसी और नेताके द्वारा जल्दी ही ऊँची उठ सकती है, पर दुनियाके साथ बुरी बात यह होती है कि वह अपनेको चोटीपर ही समझे रहती है। इसलिए नये नेताकी सुनती ही नहीं। हर धर्मके अनुयायियोंका यही हाल हुआ, और होता रहा है और शायद होता रहेगा। इसीलिए हम संवेगपर जोर देते हैं, जगत्-मैत्रीको जरूरी समझते हैं, क्योंकि अकेली वही सन्तोल बनाये रखनेमें समर्थ होती है।

सभी देशोंमें गुणी पैदा होते हैं

गुणियोंका ठेका किसी एक देशने नहीं ले रखा। सभी देश उन्हें उत्पन्न कर सकते हैं, करते आये हैं और कर रहे हैं। यही हाल उन भले आदमियोंका है, जिन्हें हम तीर्थंकर, तथागत, ऋषि-मुनि, बुद्ध, सन्त, रसूल, पैग़म्बर, नबी इत्यादि नामोंसे सम्बोधित करते हैं। यह एशिया-वासियोंकी आम तौरसे और भारतवासियोंकी खासतौरसे धृष्टता है, कि वे यह कहे जायँ कि केवल एशिया भूखण्डने आमतौरसे और भारत देशने खासतौरसे इन सबको पैदा किया है। दुनियाके शेष चार या पाँच भूखण्डों-में-से किसीको भी यह सौभाग्य प्राप्त नहीं, चीन देश है तो एशियामें ही, पर वह अपने तीर्थंकरोंको उन नामोंसे नहीं पुकारता जो नाम हमने ऊपर

गिनाये हैं। वह उन्हें साधुपुरुष कहकर ही अपनी तसल्ली कर लेता है। यही हाल जापानका है। इसलिए चीन और जापान दोनों ही देशोंने पैगम्बरों या अवतारोंको पैदा करनेवाले देशोंकी सूचीमें अपनी जगह नहीं बनायी। अरहन्त, रसूल इत्यादि शब्द इतने डरावने बन गये हैं कि एशिया आमतौरसे और भारत खासतौरसे किसी आदमीके साथ इन शब्दोंको जोड़नेमें हिचकिचाता ही नहीं, अपनी हेठी समझता है, अपने धर्मकी हेठी समझता है, इन शब्दोंकी हेठी समझता है।

रसूल अरबी शब्द है। इस शब्दका क्या वाच्य है, इसमें अरबके मौलवी प्रमाण माने जाने चाहिए। पर जब उन्हीं अरब मौलवियोंने भारतके लाल श्री जवाहरलालको रसूल कहना शुरू किया तो भारतके मुसलमान मुल्ला या कठमुल्ला चीख पड़े और रसूल शब्दको जवाहरलालके साथ जुड़ना सहन न कर सके। यह दूसरी बात है कि उनकी एक न चली। और भारतका लाल तो रसूल बना ही हुआ है।

ठीक यही हाल उन सब शब्दोंका है जो हम ऊपर गिना चुके हैं। इनमें-से किसी एकको भी अगर किसी सच्चे पूरे भले आदमीके साथ जोड़ दिया जाये तो भारतके किसी-न-किसी कोनेसे एक शोर खड़ा हो जायेगा। और अजब नहीं कि वह उस आदमीकी जान ले ले जिसके साथ वह शब्द जोड़ा गया है या अपनोंमें-से दस-बीसकी जान गवाँ बैठे। यह सब लिखकर हम यह कहना चाहते हैं कि कोई भूखण्ड तो क्या, कोई देश ऐसा नहीं हुआ जिसने ऐसे गुणी जन पैदा नहीं किये, जिनके साथ तीर्थंकर, अवतार, भगवान् या रसूल इत्यादि शब्द न जोड़े जा सकें। इसलिए हम यह कह रहे हैं कि संवेग और सन्तोल नेतामें ये गुण पैदा किये बग़ैर नहीं रहता या यह दृष्टि पैदा किये बिना नहीं रहता कि वह जगत्के सब गुणी जनोंको एक नजरसे न देखने लगे। उसे तो गुणसे गुणी ज्यादा प्यारे होते हैं। गुण तो पत्थरकी सुन्दरसे सुन्दर गाय हो सकते हैं, पर दूध नहीं दे सकते। गुणी हो सकती है, लंगड़ी, सींग टूटी, कानी, अन्धी, दुबली गाय,

वह दूध तो देगी। उसे प्यार न किया जाये तो किसे प्यार किया जाये ? उसे देखकर आनन्द न माना जाये तो किसे देखकर आनन्द माना जाये ? नेताको इसी सन्तोल और संवेग गुणके कारण जगत्के सारे गुणी प्यारे लगते हैं। उन्हें देखकर उनका नामस्मरण करके वह ऐसे ही फूल उठता है, जैसे पण्डित सूत्रमें एक मात्राके लाववसे या मामूली आदमी पुत्र-जन्म से। और नेताके लिए यह अत्यन्त आवश्यक भी है।

संवेग और सन्तोल करुणाका नाश नहीं करता। हाँ, करुणाके पलड़े-को न नीचे जाने देता है न ऊँचा उठने देता है। सन्तोल माने सब गुणोंमें सन्तोल। कहावत तो यह है कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' यानी अति सब जगह मना है। पर मैं कहूँगा कि असन्तोल सब जगह मना होना चाहिए। सीमासे बाहर गयी करुणा और सीमासे बाहर गयी निर्दयता यानी निठु-रता एक ही कोटिमें आती है। फारसीका एक पद है :—

"निकोई बा बदाँ करदन चुना नस्त,
कि बद करदन बजाये नेक मरदां"।

मतलब यह कि नेकी बदोंके साथ करना ऐसा ही है, जैसे बदी करना नेकोंके साथ। पर दुनियाका दुर्भाग्य यह है कि बड़े-बड़े पुरुष अपना सन्तोल खो बैठते हैं। 'अति वर्जित'को भूल जाते हैं। हाँ, तो संवेग और सन्तोल करुणाकी सीमा लाँघे बिना करुणाको परिष्कृत करते रहते हैं। तलवारको जरूरतसे ज्यादा लम्बी बनाकर तुम दुश्मनकी गरदन काटनेकी जगह अपनी गरदन कटा बैठोगे। उसकी तो धार पैनी होनी चाहिए।

परिष्कृत करुणा

एक शिष्यको अपने गुरुसे डाह हो गयी। कारण यह था कि वह तलवार घुमानेमें अपने गुरुजीसे भी ज्यादा होशियार हो गया था। यह बात सच्चे जीसे गुरुजीको भी स्वीकार थी। वे आगे-पीछे सदा यह कहा करते कि मेरा शिष्य मुझसे कहीं होशियार है। उसकी निपुणताकी वजहसे

मैं शान्तिके साथ मर सकूँगा। पर गुरुजी थे कि सत्तरसे अस्सी हुए, अस्सीसे नव्वे, पर मरकर न दिये, शिष्य पचासको छूनेको पहुँच गया, पर गुरुजीके समान तो क्या उनसे आधी-चौथाई भी प्रतिष्ठा न पा सका। अब डाहको जागना था और वह जाग पड़ी। डाहने सुझा दिया, गुरुजी-पर क्यों न तलवार साफ़ की जाये? डाहकी बात सुन ली गयी। विचारपर विचार सिरमें चक्कर काटने लगे। तै यही हुआ कि गुरुजी आखिर गुरुजी हैं, उनसे मुक़ाबला करनेके लिए ज़रूरतसे ज्यादा होशियार रहना चाहिए। सूझी यह कि तलवार ड्योढ़ी लम्बी बनानी चाहिए। वैसी ही तैयार कर ली गयी। किसी तरह गुरुजी तक खबर पहुँच गयी। उन्होंने दोगुनी लम्बी तलवार तैयार कर ली। गुरुजीकी खबर शिष्यको मिल गयी। शिष्यने इस बार चालाकी की। तिगुनी लम्बी तलवार तैयार की और किसीके कान तक खबर न पहुँचने दी। आखिर एक दिन एक सँकरी लम्बी गलीमें गुरु-शिष्यकी मुठभेड़ हो गयी। दोनों तलवारसे सुसज्जित थे। शिष्यने गुरुजीको देखते ही तलवार निकालनेके लिए ललकारा। गुरुजीने ललकार स्वीकार की। अपनी दोगुनी लम्बी तलवार निकाली। शिष्यने अपनी तिगुनी लम्बी तलवार निकाली और यह कहते हुए कि आज मैं आपके प्राण लेकर रहूँगा, तलवार म्यानसे खींचने लगा। गुरुजी भी तलवार म्यानसे बाहर करने लगे। पर गुरुजीका तो म्यान ही लम्बा था, तलवार तो मामूली तलवारसे भी छोटी थी। झट म्यानसे बाहर हो गयी। पर शिष्य महाराज तलवार ही खींचते रहे। सकरी गलीमें म्यान भी ऐंठ बैठा। पर जल्दी ही सूझ गयी। गुरुजीके चरणोंमें गिर पड़े। गुरुजी, गुरुजी थे। उनमें करुणा जागनी ही थी, जाग गयी। तलवारके चपटे भागसे शिष्यका सिर थपथपाकर तलवार फेंक दी और शिष्यको गले लगा लिया।

यह कहानी यह बता रही है कि सीमा लाँघकर जिस तरह तलवार बेकार हो जाती है, उसी तरह करुणा भी अपनी सीमा लाँघकर बेकार

हो जाती है। तलवारकी धार पैनी होनी चाहिए। उसी तरह करुणा परिष्कृत होनी चाहिए। सीमा लांघी हुई नहीं। परिष्कृत करुणा ही चमत्कार दिखा सकती है, अति करुणा नहीं। अति करुणा घातक होती है, रक्षक नहीं। सीमाके अन्दर रहनेवाली परिष्कृत करुणा पालक होती है, रक्षक होती है, प्रकाशक होती है और न जाने क्या-क्या होती है। और नेतामें ऐसी ही परिष्कृत करुणा होनी चाहिए, या यों कहिए कि हुआ करती है। दुःखी प्राणी नेताकी नजरसे नहीं बच सकते। यह सच है कि वह करुणा करनेमें और कृपा दिखानेमें वैरी और मित्रमें भेद नहीं करता, पर ऐसा करते हुए भी करुणाकी सीमा नहीं लाँघता।

बात असलमें यह होती है कि सत्य, श्रद्धा, विनय-सम्पन्नता, शील-सम्पन्नता और विशुद्ध ज्ञानोपयोगके कारण उसका सन्तोल स्थिर हो चुका होता है। इससे उसकी शक्तिका विस्तार विस्तीर्ण हो चुका होता है। उसी अनुपातमें उसकी कृपा और करुणाका माहात्म्य बढ़ चुका होता है। और फिर यह तो 'सत्त्वेषु मैत्री' के मंत्रसे संस्कारित होता है। इसलिए वैरी और मित्रका सवाल ही खड़ा नहीं होता। उसके लिए सब समान हैं। मानो सब मित्र-ही-मित्र हैं। फिर उसकी कृपा दुःखियोंमें भेद-भाव कैसे करेगी ? यों नेता कृपा और करुणाकी सीमा लाँघता हुआ औरोंको दिखाई दे सकता है, पर वास्तवमें वह ऐसे ही सीमा नहीं लाँघता जैसे हाथी अपनी पीठपर हौदा लादकर बोझ नहीं भर रहा होता। हाँ, गधे, खच्चर और घोड़ोंकी नजरोंमें बेहद बोझा भर रहा होता है। थोड़े शब्दों-में नेता अपनी शक्तिको जाँचकर करुणा और कृपाके क्षेत्रमें कूदे और वैसा वह करता भी है, तभी सुनेता पदको सुरक्षित रख सकेगा। नहीं तो कुनेताकी सीमाको छू लेगा और फिर अजब नहीं उधर ही जा खिंचे।

द्वन्द्वात्मक दुनिया

इस द्वन्द्वात्मक जगत्में पग-पगपर सन्तोल बिगाड़ बैठनेके अवसर आते

रहते हैं। यही कारण है कि हज़ारों-लाखोंमें-से कोई एक ही सच्चा नेता बन पाता है और वह भी शताब्दियों बाद। सन्तोल खोनेके लिए सबसे बुरा अवसर वह होता है, जब किसीका किसी ऐसेसे पाला पड़ जाय, जो उलटी बातको ही सीधी समझता हो। रतौंधी एक बीमारी है। इसमें आदमी रातको अन्धा हो जाता है। इसी तरह रंगोंधा (कलर ब्लाइण्ड) भी एक बीमारी है। जिसको यह बीमारी होती है, वह हरे रंगको लाल कहेगा और लाल रंगको हरा। अब आप ही कहिए ऐसे मूढ़ मतिसे आपका पाला पड़ जाये तो क्या आप संतोल बनाये रख सकते हैं? यदि हाँ, तो आप सचमुच नेता बननेके योग्य हैं। विपरीत बुद्धिवाले कुछ इस तरहकी बातें करते हैं कि उनकी बातोंसे समझदारसे समझदार आदमी बिगड़ उठ सकता है। और ऐसे विपरीत बुद्धिवाले लोगोंसे यह जगत् भरा पड़ा है। इसमें-से नेता बननेका रास्ता ढूँढ़ निकालना इतना ही कठिन है, जितना घने जंगलमें सीधी राह निकालना।

एक तरह देखा जाय, तो हम सभी उलटी मतिके हैं। हम करें क्या? हमें बचपनसे ही कुछ इस तरहके पाठ पढ़ाये जाते हैं जो हमें उलटी मतिका बना देते हैं। अन्ध श्रद्धा हमें जन्म-घुण्टीके साथ पिला दी जाती है। मुसलमान बालक आसानीसे यह मान बैठता है कि पुनर्जन्म नहीं होता। इसके विपरीत हिन्दू बालक आसानीसे यह मान बैठता है कि पुनर्जन्म होना अत्यावश्यक है। यही बात मूर्ति-पूजा इत्यादि अनेक रिवाजोंके बारेमें कही जा सकती है। सैकड़ों सन्त कह-कहकर थक गये हम मिट्टीसे बने हैं और हमें मिट्टीमें मिल जाना है। और सैकड़ों ही आदमी आये दिन यह अलापते रहते हैं :—

"कर ले सिंगार चतुर अलबेली साजन के घर जाना होगा,
मिट्टी ओढ़ना, मिट्टी बिछौना, मिट्टी का सिरहाना होगा।"

पर हम हैं कि मृतक संस्कार करते हैं। मुरदेकी अगर कोई बेइज्जती कर दे तो लट्ठ चल पड़ते हैं। मृतकके संस्कारपर काफ़ी धन खर्च किया

जाता है। फिर चाहें उसका दाह संस्कार किया जाये या दफ़नाया जाये। अरबके पैग़म्बर हज़रत मोहम्मदने जीते-जी किसी मुसलमानकी क़ब्र नहीं बनने दी। अरबमें मुरदे दफ़नाये जाते थे। इसलिए दफ़नानेका रिवाज तो उन्होंने क़ायम रखा, पर दफ़नानेके बाद जमीन बराबर कर दी जाती थी और यादगारके रूपमें कोई निशान नहीं छोड़ा जाता था। हज़रत मोहम्मदकी रायमें मरनेके बाद आदमी मिट्टी हो जाता है। उसे मिट्टी ही समझना चाहिए और मिट्टीमें मिला देना चाहिए। ऐसे उन्नत विचारों-वाले महापुरुषकी ही मदीनेमें बड़ी शानदार क़ब्र बनी हुई है। उसको क़ब्र कहना भी उसका निरादर करना समझा जाता है। 'उसे मज़ारशरीफ़' कहकर पुकारना चाहिए। अब बताइए ऐसे जगत्में आप किस तरह सन्तोल क़ायम रख सकते हैं? और अगर कोई रख ही ले तो उसे कितना बड़ा आदमी समझना चाहिए।

स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजाका खण्डन करते थे, पुराणोंका भी खण्डन करते थे, पर उन्हींका चित्र मूर्तिकी तरह कहीं-कहीं पूजा पा रहा है और कहीं आदर पा रहा है। एक मर्तबा किसी स्नातकने उनके चित्रका भरी सभामें निकृष्टतम ढंगसे निरादर कर दिया था। इस बातको लेकर आर्य-समाजमें दो दल खड़े हो गये। एक पक्षका कहना था कि स्नातकने ठीक किया। यानी कोई निरादर नहीं किया। चित्र या काग़ज़का निरादर होता ही नहीं, दूसरे पक्षका कहना था कि उसने नाठीक किया। उसने चित्रका निरादर करके स्वामीजीका निरादर किया। सारे समाजका निरादर किया। सन् १९११ में हम गुरुकुल कांगड़ी देखने गये थे, हमें एक कोठरी दिखायी गयी। उसमें कुछ और न था। सिर्फ़ स्वामीजीका बहुत बड़ा चित्र था। हम उस कोठरीमें जब जूते पहने प्रवेश करने लगे तो हमें रोका गया। हमारे जूते उतरवाये गये, तब अन्दर जा सके। हमें वैसा करनेमें तनिक भी हिचक न हुई। क्योंकि हम पैदायशी मूर्तिपूजक थे। और कट्टर मूर्तिपूजक थे। फिर भी न जाने क्यों आर्यसमाजियोंकी इस कृतिपर

मन ही मन हँसते रहे। और आज भी याद आ जानेपर हँसी आ जाती है। लिखाते-लिखाते भी हँसी आ रही है। ऐसी विचित्र दुनियामें संवेग और सन्तोलको बनाये रखना मामूली काम नहीं हो सकता। पर नेता बननेके लिए ऐसे अनेक ग़ैरमामूली काम करने होंगे।

गणितकी जटिलता

गणित अपनी सचाइयोंके लिए प्रसिद्ध है। यह अकेला ऐसा विज्ञान है जो मनुष्यको ठीक-ठीक ज्ञान कराता है। पर इसकी विपरीतताएँ इतनी भयानक व इतनी महान् हैं कि साधारण पढ़ा-लिखा आदमी ही नहीं, अपढ़ आदमी भी उन्हें सुन-समझकर बिगड़ उठेगा। पर ऊँचे दर्जेके ज्ञानियोंके लिए वे ही विपरीतताएँ इतनी प्रिय और सूक्ष्म हैं कि वह उन-पर लट्टू हो बैठता है। गणितको गलेका हार बना लेता है। उसका हो रहता है।

इसी गणितकी एक शाखा है रेखागणित। यह बिन्दुकी परिभाषा करती है: बिन्दु वह है जो है तो, पर न उसमें लम्बाई है न चौड़ाई न मोटाई (नो मैगनीटयूड)। तो फिर वह है क्या? जी हाँ, है! और है बिन्दु। इसी होने और न होनेवाले बिन्दुने रेखागणितका नामकरण किया। वह कैसे? रेखागणितमें रेखाकी परिभाषा की गयी है—रेखा वह जो बिन्दुओंसे बनी हुई है। जिसमें न चौड़ाई है न मोटाई, पर लम्बाई है। देखिए, नो मैगनीट्यूट यानी न कुछ लम्बाई ले बैठा, यह विपरीतता नहीं है तो क्या है? इसे छोड़िए। रेखा-गणितका एक नाम है यूक्लिड। यूक्लिड इसका नाम यों पड़ा कि यूरॅपमें यूक्लिड नामक एक विद्वान्ने वहाँवालोंको रेखा-गणितपर किताब लिखकर रेखागणितका ज्ञान कराया। उसी यूक्लिड विद्वान् या उसी यूक्लिड विज्ञानका कहना है कि "त्रिभुजके तीनों कोण मिलाकर दो सम-कोणके बराबर होते हैं।" यानी एक सौ अस्सी अंशके। यह बात गणित

ज्ञानमें अटल मानी जाती है। इस सत्यसे किसीको इनकार नहीं। इसी सचाईको लेकर इंजिनियर काम करते हैं। पर बीसवीं सदीमें एक नयी रेखागणित तैयार हो गयी, जिसका नाम है 'नॉन यूक्लिडियन ज्योमैट्री'। उसका कहना है 'त्रिभुजके तीन कोण सदा दो समकोणसे बड़े होते हैं। यानी एक सौ अस्सी अंशसे ज्यादा होते हैं। कहिए अब आपके पाँवोंके नीचेकी धरती निकल गयी या नहीं? अब आप त्रिशंकुकी तरह आकाशमें अधर रह गये या नहीं? पर याद रहे त्रिभुजकी दोनों परिभाषाएँ सोलहो आना और सौ प्रतिशत सत्य हैं। पहली परिभाषा प्लेन ज्योमैट्री यानी तल ज्यामितिसे सम्बन्ध रखती है। दूसरी परिभाषा स्फूरिकल ज्योमैट्री या गोलाकार ज्यामितिसे सम्बन्ध रखती है।

कठिनाइयोंका हल

जिस तरह बिन्दुका अस्तित्व है, पर कहीं ढूँढ़ा नहीं मिलता, उसी तरह हर पदार्थका मध्य भाग है, पर वह ढूँढ़ा नहीं मिल सकता। वर्तमान कालका नाम है, पर वह है कहाँ? भूत-भविष्य कहीं जुलते जरूर हैं पर उस सन्धिका ठीक-ठीक पता लगाना मुश्किल तो है ही, असम्भव भी है, ऐसा कह दिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। यही कारण है कि 'माध्यस्थ-भावं विपरीतवृत्तौ', व्रतका निर्वाह अत्यन्त कठिन ही दीख पड़ता है पर यह कठिनाई वह सम्यक्ज्ञान दूर कर देता है जो सत्य श्रद्धा यानी सम्यग्-दर्शनपर टिका होता है। टिका क्या होता है, एक मेल हो रहा होता है, विनय और शीलसम्पन्नता उसे चमका रही होती है। वही ज्ञान जब उपयोगमें आता है तो न ढूँढ़े जानेवाले मध्य बिन्दुको ढूँढ़ निकालता है और असम्भवको सम्भव कर दिखाता है।

स्याद्वाद शब्दसे स्वामी दयानन्द भड़क उठे थे। स्यात्का उन्होंने वह मजाक उड़ाया जो स्याद्वादी कभी न भूलेंगे। उसी स्याद्के मजाक़से उनके भक्त उनके और भी श्रद्धालु हो गये। और उस खण्डन या कुखण्डन-

में, तर्क या कुतर्कमें खूब रस लेने लगे। और उसी स्याद्वादपर अनगिनत देशी-विदेशी विद्वान् लट्टू हैं। सराहना करते-करते विभोर हो उठते हैं। यह कह डालते हैं कि इस वादके बिना तर्कशासन अधूरा समझा जाना चाहिए।

देखा आपने विपरीतताएँ कितनी गहरी जड़ रखती हैं। इन सबके मेल बिठाना कितना कठिन कार्य है, पर नेता बननेके लिए हमें कठिनाइयोंको हल करना ही होगा। ज्ञानोपयोग ऐसे ही समय तो काम आता है। कठिनको सरल कर डालना उसके बाँयें हाथका खेल है। सत्यश्रद्धा उसे चुपके-चुपके ऐसे ही बल देती रहती है—जैसे बैट्री बल्बको चमकनेका बल देती रहती है।

यही हाल सापेक्षवादका है। इसी सापेक्षवादने आइंस्टीन विज्ञानीमें जाकर अवतार लिया जो 'रिलेटिविटी' सिद्धान्तके नामसे प्रसिद्ध है। और जिसने ऐसी सचाई इस भौतिक जगत्में ला खड़ी की है कि उसे समझकर हम दाँतों तले उँगली दाब लेते हैं। बिलकुल ऐसा मालूम होने लगता है कि हम उलटवासियोंकी दुनियामें रह रहे हैं, यानी पैराडॉक्सीकल व वर्ल्डमें निवास कर रहे हैं, यह सब घबरानेवाली चीज़ें हैं पर इन घबराहटोंसे ऊँचा उठना ही पड़ेगा। तब और तभी हमारा सन्तोल क़ायम रह सकेगा।

यह कह बैठना किसे उलटा नहीं लगेगा कि बालक आदमीका बाप होता है। पर यह तो कह रहा है युरॅपका महाकवि विलियम वर्ड्सवर्थ। और कह रहे हैं हम। यह ऐसी सचाई है जो बड़ी आसानीसे हर एकके गले उतर सकती है। पति-पत्नी लड़के-लड़की ही होते हैं, वे बूढ़े क्यों न हो जायें लड़के-लड़की ही समझे जाते रहेंगे। बहुत हुआ नर-नारी नाम लेंगे, लेकिन पिता-माता नहीं कहला सकते, अगर उन्होंने किसी सन्तानको जन्म नहीं दिया। अब देखा आपने। यह पुत्र ही तो है या बालक ही तो है जो लड़की या नारीको माँ बनाता है और लड़के या नरको बाप बनाता है। एक तरह बालकने ही माता-पिताको जन्म

दिया। अगर यह सहन न हो तो यों कह लीजिए कि माता-पिता पदोंको जन्म दिया। फिर बालकको माता-पिताके बाप माननेमें झिझक क्यों? यही सब हैं ज्ञानकी गहराइयाँ जो अनेकतामें एकताकी स्थापना करती है, जो विपरीततामें असमानताका दर्शन कराती हैं, जो न मिल सकनेवाले मध्य बिन्दुका पता देती हैं। जिसे पाकर एक नेता माध्यस्थभावी बन जाता है।

हम विपरीतताओंका पुराण लिखने नहीं बैठे। नेता पथपर आरूढ़ हमारे पाठक खुद ही ऐसी विपरीतताएँ हमसे ज्यादा खोजकर निकाल सकते हैं। यहाँ तो हमने 'स्थालीपुलाक या 'मुश्ते अज़ खखारे' न्यायके आधारपर कुछ नमूने पेश कर दिये हैं। आखिर पकते चावलमें एक चावल देखकर ही समझ लिया जाता है कि सब चावल पक गये होंगे। और ढेरमें-से मुट्ठी अनाज लेकर ही तो सारे ढेरको परखा जाता है। फिर क्यों न हमारे पाठक इतने ही से सन्तोष कर लेंगे और अपने आपमें संवेग पैदा कर सन्तोल क़ायम रख सकेंगे, जो नेतृत्वके लिए निहायत आवश्यक है। अभ्याससे पाँवमें सींग बाँधकर जब नर रस्सीपर चल सकता है तब नेता वैसा क्यों नहीं कर सकता? यहाँ यह भी याद रहे कि नर न चलता है न चल सकता है। वह अपना सन्तोल क़ायम ही नहीं रख सकता। उसका सन्तोल क़ायम रखता है वह बाँस या दण्डा, जिसे वह दोनों हाथसे थामे होता है। इसी तरह कोई नेता यह न समझे कि वह इस सांसारिक रस्सीपर अपना सन्तोल खुद बनाये रख सकता है। यह तो उसका तप-त्याग रूपी बाँस या दण्डा ही होगा, जो बारीक रस्सीपर उसका सन्तोल क़ायम रख सकेगा।

•

त्याग

त्यागकी बात सुनकर सब दम त्याग बैठते हैं, पर उन्हें यह नहीं मालूम कि त्याग प्राणी मात्रका जीवन है। हम त्याग करके ही जीवित रह सकते हैं। और दूसरोंके त्यागपर ही जीवन बिता सकते हैं। जीवका आधार ही जीव है। त्याग और जीवन एकार्थवाची हैं। ग्रहण और त्याग जीवननामी एक ही पदार्थके दो पहलू हैं। त्याग और ग्रहण चक्रमें घूमते रहते हैं। शायद इसीको निगाहमें रखकर ऋषि-मुनियोंने संसारको चक्र कह डाला। फ़ारसीमें आसमानका नाम है चर्ख। चर्ख और चर्खा एकार्थवाची हैं। इसलिए त्याग और ग्रहणका समझ लेना निहायत आवश्यक है।

त्याग और दान

दान, दान ही नहीं, यदि उसके पीछे त्यागकी भावना न हो। देखनेमें दान साफ़ त्याग दिखलाई देता है। पर त्यागको दान कहा जा सकता है, दानको त्याग नाम नहीं दिया जा सकता। दान हमें पकड़े रहता है। इसलिए दान देकर हम हलके तो जरूर होते हैं, पर स्वतन्त्र नहीं हो पाते। किसान खेतमें अनाज बिखेरता है। उसे बिखेरना तो हम कहते हैं। किसान उसे बिखेरना नहीं कहता। वह उसे बोना या बपन कहता है। हम चिड़िया कौओंके सामने अनाज बिखेरते हैं, पर मनमें बिखेरनेकी भावना नहीं रहती। दूसरे अगर हमें यह समझें कि हम अनाज बिखेर रहे हैं, तो वे ठीक समझते हैं। पर हम वैसा नहीं कर रहे होते। हम तो पुण्य संचय कर रहे होते हैं। यह अच्छा बिखेरना है। जो इकट्ठे करनेका नाम पा रहा है। संचय करना यानी इकट्ठा करना। अब यह साफ़ हो गया

कि त्याग और दान दो भिन्न चीजें हैं। दान सेठ करते हैं, गृहस्थी करते हैं। त्याग नेता करते हैं, तपस्वी करते हैं। शायद छोटे बालक भी करते हों।

'नेकी कर कूएँमें डाल' यह कहावत त्यागका पाठ दे रही है। यह बहुत कठिन काम है। जिस सन्तोषकी बात हम पहले कह चुके हैं, जिस संवेगका वर्णन हम सन्तोष अध्यायमें कर चुके हैं, वे दोनों ही त्यागके लिए आवश्यक हैं। संवेग और सन्तोष बिना सारा त्याग दान बन जायेगा। वपन या बोनेका रूप ले लेगा। पुण्य नाम पा जायेगा। पुण्य सुननेमें बहुत सुहावना है, पर नेतृत्वकी राहमें वह ज्यादा भली चीज नहीं है। पुण्य संचयसे मिलता जुलता है। पुण्यके बारेमें संचय शब्दका प्रयोग होता रहा है। पुण्य धनकी तरह संचय किया जाता रहा है, किया जाता है। इसलिए वह भी आदमीके लिए भारी पड़ता है। खाना भी तो खानेके बाद पेटको भारी कर देता है। पर इस कारण त्यागा तो नहीं जा सकता। इसलिए पुण्य भी त्यागा तो न जा सकेगा, पर त्यागके साथ उसका गठ-बन्धन तो नहीं किया जा सकता। त्याग पुण्यसे बँधकर त्याग ही न रह जायेगा।

त्यागकी यह सूक्ष्मता, त्यागकी ये बारीकियाँ भले ही हमारे पाठकोंको डरा रही हों, दबा रही हों, हमारे लेखको दुरूह बना रही हों, पर उस सचाईको पाठक ध्यानमें रखें कि वे किसी-न-किसी अंशमें सच्चे त्यागी हैं। हम यह सलाह तो नहीं देते कि वे अपने त्यागपर नजर डालें, क्योंकि ऐसा करके हम 'नेकी कर कूएँमें डाल' वाली कहावतका विरोध कर रहे होते हैं, पर क्या करें? हमें यह सब इसलिए करना पड़ रहा है कि जो कुछ हम अभी त्यागके विषयमें कह चुके, वह ऐसा नहीं है, जो पाठकोंके गलेमें अटक जाये। वह अटका ही नहीं है। वह पहले ही नीचे उतर चुका है। और हम अभी आपको विश्वास कराये देते हैं कि हम सोलहो आना ठीक कह रहे हैं।

उपकारी एवं उपकृतकी दृष्टि

हमारे पाठकोंमें-से ऐसा एक भी न होगा जिसे एक दो नहीं, दसियों उपकार ध्यानसे उतर गये हों। उपकृत अगर आकर उनके सामने उनके उपकारकी कथा सुनायें तो बहुत टटोलनेपर भी वे अपने मस्तिष्कमें कहीं अंकित न पा सकेंगे कि उन्होंने ऐसा कोई उपकार उपकृतके प्रति किया था। उदाहरणके लिए रेलमें मुसाफ़िरी करते वक़्त आप किसीको पानी पिला देते हैं या और कोई छोटा-मोटा उपकार, जैसे बैठनेके लिए जगह दे देना या सोनेके लिए जगह बना देना या ओढ़नेके लिए कपड़ा दे देना, कर देते हैं तो यह आपको याद नहीं रह सकता। पर सम्भव है उपकृत उसे उमर-भर न भूले, क्योंकि पता नहीं उसे जब पानी मिला, वह कितना प्यासा था। उसे जब जगह मिली, वह कितना थका हुआ था या कितना घबराया हुआ था। उसे जब सोनेको स्थान मिला तो वह कितना नींदा-सा था। उसे जब ओढ़नेको कपड़ा मिला तो वह सर्दीसे कितना काँप रहा था। उपकारका मूल्य उपकारी क्या जाने? अगर वह लगाने ही बैठ जाये तो बहुत कम लगायेगा। अगर काला बाजारी हो, तो कितना ही बढ़कर क्यों न लगाये उपकृतकी नज़रोंमें तो वह नगण्य ही बना रहेगा। कथा सुनिए :—

एक राजा मन्त्री समेत घने जंगलमें राह भटक जाता है। दोनों ही थोड़ी देरमें प्याससे तड़फने लगते हैं। इतनेमें ग्वालेका एक लड़का आ निकलता है। उससे वे अपनी प्यासकी बात कहते हैं। वह उन्हें जल्दी ही पानी ला देता और अपनी राह चल पड़ता है। दोनों उसे रोक लेते हैं। रोकनेका ढंग बता रहा होता है कि वे उसे कुछ मज़दूरी देना चाहते हैं। बालकमें लालच जाग पड़ता है। वह बैठ जाता है। इतनेमें राजा और मन्त्री दोनों सलाह करने लगते हैं। इस परिणामपर पहुँचते हैं कि इसे एक गाँव इनाम दे देना चाहिए। देखा आपने एक गिलास पानी-का मूल्य। और उस पानीका मूल्य जिसका ग्वालेके लड़केने एक कौड़ी

भी नहीं लगाया था। अब आगे सुनिए। वजीर उस लड़केसे पूछता है तुम किस गांवमें रहते हो? लड़का सवाल सुनते ही बड़ी जल्दी न जाने क्या-क्या विचार बना बैठता है। जवाब दे बैठता है। "मैं आपके गांवमें नहीं रहता। मैं अपने जमीदारकी शक्ल-सूरत पहचानता हूँ। उनके घर गया हूँ। उनके बच्चोंके साथ खेला हूँ। मैं एक पैसेसे कम हरगिज नहीं लूँगा।" देखा आपने, काला बाजारीका मोह। इस मोलको एक गांवसे तौलिए। कहां उपकारीका मोल और कहां उपकृतका मोल। दूसरी कथा सुनिए :—

"हम छोटे-से थे। हमारे पिताजी मन्दिर बनवा रहे थे। कई मजदूर कामपर लगे थे। कोई गारा तैयार कर रहा था, कोई चूनेके लिए सन् कूट रहा था, कोई कुछ कर रहा था, कोई कुछ। इतनेमें एक मुसलमान सज्जन साफ़-सुथरे कपड़े पहने पांवमें बढ़िया जूता डाटे, सर-पर रंगीन साफा बांधे पिताजीकी चारपाईके पास आ खड़े होते हैं। पिताजी सकपका जाते हैं। सिरहानेकी जगह बैठनेके लिए छोड़ देते हैं और आगन्तुकसे बैठनेकी प्रार्थना करते हैं। आगन्तुक नहीं बैठता, खड़ा-खड़ा दरख्वास्त करता है। कहता है हुजूर भूखा हूँ। कुछ काम दिलवाइए। पिताजी कुछ नहीं समझ पाते। कहते हैं मेरे पास मजदूरीके सिवाय कोई काम नहीं। वह कहता है कि जी हुजूर यही चाहिए। पेट पालनेके लिए मजदूरी बुरा काम नहीं। कुछ देर वाद-विवादके बाद सन्दला पीसने-का काम उसे दे दिया जाता है। कपड़े उतार वह काममें जुट जाता है। दो घण्टेमें ही उसके हाथमें छाले पड़ जाते हैं। पिताजी उसके पास जाकर उसके हाथोंको देखते हैं। उन्हें दया आ जाती है। वह सन्दला पीसनेका काम उससे छुड़वा देते हैं। मेंटका काम उसके सुपुर्द कर देते हैं। यानी देखभालका काम। शामको दस पैसे मजदूरी देकर उसे विदा कर दिया जाता है। वह दूसरे दिन आनेका वायदा कर जाता है। आता भी है। मेंटका काम दिये जानेपर वह इनकार करता है। सन्दला

पीसनेमें ही लगता है। घण्टा-भर सन्दला पीसनेके बाद चिट्ठीरसा आता है। हमारे पिताजीसे वह एक सरकारी लम्बे लिफ़ाफ़ेपर लिखा हुआ पता पढ़वाता है। पिताजी ज़ोर-ज़ोरसे पता पढ़कर सुनाते हैं। सन्दला पीसनेवाला आदमी पता सुनकर पीसते-पीसते बोलता है, हुजूर यह मेरा लिफ़ाफ़ा है। पिताजी दंग रह जाते हैं। चिट्ठीरसा पिताजीके कहनेपर वह लिफ़ाफ़ा उसे दे देता है। वह लिफ़ाफ़ेको पिताजीकी चारपाईपर रख देता है और अपने काममें जुट जाता है। पिताजी उससे पूछकर लिफ़ाफ़ा खोलते हैं। अन्दरके हुक्मनामेको पढ़ते हैं। पता लगता है कि वह पुलिसका दारोग़ा था। किसी वजहसे बरख़ास्त कर दिया गया था। उसने अपील की थी और बहाल कर दिया गया था यानी उसे फिर नौकरी मिल गयी थी। पिताजी फ़ौरन उसे अपने पास बुलाते हैं। उसे कामसे छुट्टी देते हैं। दस पैसे उसके हाथमें थमाते हैं, पर वह दो पैसेसे ज़्यादा लेनेसे इनकार करता है क्योंकि उसकी नज़रमें उसने उस दिन उतना ही काम किया था, बड़ी मुश्किलसे वह दस पैसे स्वीकार करता है। कहिए इसमें कहीं आपको कोई उपकार दिखलाई देता है? और कौन पाठक हमारे पिताजीको उपकारीकी पदवी दे सकता है? एक दारोग़ासे सन्दला पिसवाकर दस पैसे दे देना क्या उपकारकी गिनतीमें आ सकता है? और इस उपकारकी क्या तो पिताजीको याद रहती और क्या मुझे याद रहती, पर उपकृत तो इस उपकारके इतने दाम लगाता है कि वह उमर-भर उसे चुका ही नहीं पाता। जीतेजी वह हर साल आता रहा और हम तीन भाई-बहनोंके लिए मिठाई और मेरे लिए एक साफा लाता रहा। अगर ऐसा न हुआ होता तो क्या यह शब्द पाठकोंके सामने आ सकते थे। उपकारी और उपकृतमें देख लिया कितना अन्तर होता है। ये कथाएँ 'नेकी कर कूएँमें डाल' वाली कहावतको चरितार्थ नहीं होने देतीं।

त्यागका मूल्य

कथाओंसे दुनियाका साहित्य भरा पड़ा है। इसलिए शुद्ध त्याग

अत्यन्त कठिन ही नहीं असम्भव हो गया है। हर त्यागके पीछे पुण्यकी भावना जाने-अनजाने छिपी रहती है, जो त्यागको दान बनाकर छोड़ती है। नेताको इस बुराईसे बचना होगा। वह जितना खरा त्यागी होगा, उतना ही उच्च कोटिका नेता होगा। ऐसे त्यागका क्या फल होता है कथाकारने उसे दिखानेकी कोशिश की है। पर जिस ढंगसे उसने दिखाया है, उससे त्याग हलका तो हो जाता है, पर वैसा किये बिना कथा बन ही नहीं सकती थी। वह कथा यों है :—

"एक सेठ दान करते-करते ग़रीब हो जाता है। पर वह अपने दिये हुए दानका पूरा लेखा रखता है। ग़रीबी उसे अपना दान बेचनेको तैयार कर देती है। एक सेठ उसके बहीखातोंके बदलेमें बहीखातोंके वजनके बराबर स्वर्ण देनेको तैयार हो जाता है। बहियाँ तोली जाती हैं। एक बही ऐसी निकलती है जिसपर जितना ही सोना चढ़ाया जाता है पर पड़ला उठता ही नहीं। आख़िर उस बहीमें-से पन्ने फाड़-फाड़कर वजन कम किया जाता है। फिर भी बहीका भारीपन तनिक भी हलका नहीं होता। आखिर एक पन्ना ऐसा फटता है कि उसके फटनेपर बहीका वजन इतना ही रह जाता है जितने उसमें पन्ने थे। अब यह होता है कि खरीदनेवाला सेठ सिर्फ़ उस पन्नेको चाहता है और जितना सोना दे चुका है वह तो दे ही चुका। सारी बहियाँ भी वापिस करता है। पर बेचनेवाला सेठ आधा सोना वापिस करनेको तैयार है, पौन सोना वापिस करनेको तैयार, पर उस पन्नेको बेचनेको तैयार नहीं। मामला बहुत बढ़ता है। लोग इकट्ठे हो जाते हैं। अन्तमें उस पन्नेका हिसाब पढ़ा जाता है। उसमें बहुत-से दानोंका हिसाब था। अनोखा दान एक ही था। और वह यह था कि एक दिन पति-पत्नी और उसके बच्चे सभी बहुत भूखे थे। किसी तरह मजदूरी करके बिगड़े हुए सेठ इतना अन्न ला सके कि जिससे मोटी दो रोटी तैयार हो सकें। सेठानीने पीस-पासकर दो रोटियाँ तैयार कीं। खानेको बैठे तो क्या देखते हैं कि एक नयी जनी हुई कुतिया

भूखसे अपने बच्चेको खानेपर उतारू हो गयी। सेठको दया आ गयी। उसने दोनों रोटियाँ कुतियाको डाल दी।" बस उस पन्नेमें इन्हीं दो रोटियोंका जमा-खर्च था। कथाकी सचाई-झुठाईसे हमें कुछ नहीं लेना। यहाँ तो हमें इतना ही जानना है कि सच्चा त्याग इतना फल लाता है, जिसका न हिसाब रखा जा सकता है न वह समेटा जा सकता है।

त्यागका स्वरूप

त्यागके फलकी ओर ध्यान देना, याद लाना तो अबतकके लिखे हुए-पर पानी फेरना है। 'इस हाथ दे उस हाथ ले' यह नीचे दर्जेकी कहावत है। यह दानके लिए तो कही भी जा सकती है पर त्यागके लिए नहीं। त्याग तो वही त्याग है जो याद न रहे। जो याद दिलानेपर भी याद न आये। फिर वह चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, यह है तो मुश्किल काम, पर नेताओंके लिए यह आसान हो जाता है। पर उन्हीं नेताओंके लिए जो सच्चे विश्वासके साथ समाजकी भलाईमें जुटते हैं। माँ बच्चेपर न जाने कितने उपकार कर जाती है, पर क्या वे उसे याद रहते हैं? यही त्याग तो उसे जीवित रखते हैं। बापका भी यही हाल होता है। वह भी इसी तरहके उपकार भुलाता नहीं रहता, भूलता रहता है। शायद वे उपकार स्मृतिपर अंकित ही नहीं हो पाते—इस बातको किसी कविने बड़े सुन्दर ढंगसे दर्शाया है—

"परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः, परोपकाराय वहन्ति नद्यः", यानी परोपकारके लिए ही पेड़ फल देते हैं, परोपकारके लिए ही नदियाँ बहती हैं। कवि कहते तो कह गया। बेचारा और कहता भी कैसे? पर याद रहे वह उपकृतकी भाषामें बोल रहा है, उपकारीकी भाषामें नहीं। उपकारी शब्द गढ़ा ही उपकृतने है। उपकारी अपनेको उपकारी कैसे कह सकता है? ऐसा कहना तो त्यागको धब्बा लगाना है। मतलब यह कि त्यागको ठीक-ठीक दर्शानेकी क्षमता भाषामें नहीं है। उसे तो गूँगी भाषा ही दर्शा

सकती है। पेड़ फल त्यागते हैं। वे त्याग कर हलके होते हैं। उनकी झुकी हुई डालियाँ हवामें फहराने लगती हैं। वे उपकारकी बात सोच ही नहीं सकते। वे फलोंको फेंककर फलोंकी ओरसे ऐसे ही बेपरवाह हो जाते हैं, जिस तरह हम नाककी सिनक फेंककर, मुँह खखार फेंककर, पेशाब फेंककर या मल फेंककर। मल फेंकनेके लिए 'मल त्याग' मुहावरा है। और बड़ा उचित मुहावरा है। सिनक, खखार, पेशाब, मल त्यागनेके बाद सचमुच हमें हलकापन प्रतीत होता है। आनन्द आता है। मल रुक जाये, फिर चाहे वह किसी तरहका क्यों न हो, बीमारी पैदा करता है। अब त्याग क्या है यह पाठकोंकी समझमें आ गया होगा।

जिस तरह पेटमें भोजन पहुँचकर उसका कुछ हिस्सा देहका अंग बन जाता है। शेषको बाहर निकलना ही चाहिए। ठीक उसी तरह हमारी कमाईका कुछ हिस्सा हमारे अंगके काम आ जाता है। हमारे कुटुम्बके काम आ जाता है। शेषको त्यागना ही चाहिए। जैसे हमारी विद्याका कुछ भाग हमारे संस्कारोंका रूप ले लेता है। और हमारा अपना बन जाता है। शेष दूसरों तक पहुँचना ही चाहिए। तभी हम तनसे मनसे तन्दुरुस्त रह सकते हैं। और समाजमें अपनी जगहपर स्थिर और शान्त रह सकते हैं। ध्यान रहे त्याग करके हम किसीपर 'अहसान' नहीं करते। किसीको लाभ पहुँचाते हैं या नहीं, यह भी कुछ नहीं कहा जाता। पर यह सन्देह रहित कथन है कि हम अपना भला जरूर कर लेते हैं। यह बात अगर समझमें आ जाये और यह सचाई हृदयस्थ हो जाये तो त्याग ऐसे ही अपने-आप होता रहता है, जैसे प्रकृति हमें स्वस्थ रखनेके लिए पसीना निकालती रहती है या दूसरी तरहके और मल बाहर फेंकती रहती है।

त्यागका फल

त्यागके इस निहित तत्त्वको समझ लेनेसे नेताके चेहरेपर प्रसन्नता

खेलने लगती है। उसकी आकर्षण शक्ति बेहद बढ़ जाती है। अनुचित स्वार्थ उससे ऐसे दूर हो जाता है, जैसे घोड़ेके सिरसे सींग। यह त्यागकी ही महिमा है कि आदमी सतत काममें लगा रह सकता है। लगा रहता है। थकानका अनुभव ही नहीं करता। किसने नहीं देखा कि माँ अपने पुत्रके लिए और बहन अपने भाईके लिए आराम त्याग कर भी आराम पाती रहती है। भोजन त्याग कर भी पेट भरनेका सुख पाती रहती है। वस्त्रोंकी कमीको भी वस्त्रोंकी बहुलता समझती रहती है। ठीक इसी तरहसे ही कोई नेता जब त्यागकी परीक्षा पास कर चुकता है, तो उसमें वात्सल्य गुण पैदा हुए बिना नहीं रहता। त्यागगुण जागृत होनेपर आदमीको बेहद सहिष्णु बना देता है। त्यागगुण इतना प्रयास-सिद्ध नहीं है, जितना सहज प्राप्य है। इसलिए चिन्ताका विषय नहीं होना चाहिए। वृक्ष और नदीकी उपमा देकर शुरूमें ही हमने यह बात साफ़ कर दी।

साहजिक त्याग आदमीको निःशंक और निडर बना देता है। इसलिए वह फलकी ओरसे बेपरवाह हो जाता है। और यह बेपरवाही उसे निरन्तर काममें लगे रहनेमें बड़ी सहायक होती है। और उसके कामको सरल बनाती रहती है। त्यागमें एक गुण और है कि वह ज्ञानपर-से उस परदेको हटा देता है जो असलियतको समझनेमें बाधक बना होता है। यह त्याग ही की अन्तिम क्रिया है, जिसे यों कहकर पुकारते हैं कि अमुकको ज्ञान प्राप्त हो गया। बुद्ध और महावीरके बारेमें इस तरहकी ज्ञानप्राप्तिका सविस्तार वर्णन मिलता है। असलियत खुल जानेसे आदमीके चरित्रमें एक नया मोड़ आता है। जिससे आदमीमें एकदम क्रान्ति हो जाती है। दुनियाके साथ उसका व्यवहार ही बदल जाता है। वह कुछका कुछ हो जाता है। इसी त्यागसे लगा हुआ तप गुण भी है। अगर तप त्यागसे पहले किसीपर आ सवार हो (आ सवार हो हम जान-बूझकर लिख रहे हैं क्योंकि त्यागसे पहलेका तप बोझिल होता है। अनेकों मूर्खताओं और आडम्बरोंसे भरा होता है। उसे बालतप संज्ञा दी जा सकती है) तो

बड़ा दुःखदायी होता है, पर उस दुःखमें भी तपस्वी या मूर्ख तपस्वी आनन्द लेता रहता है। हालां कि उससे उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ता। वह जो कुछ होता है, उससे भी कुछ कम हो जाता है। इसलिए त्यागको ज्यादा महत्त्व दिया जाता है और इसीलिए हम त्यागको तपसे पहले ले रहे हैं।

तप प्रसिद्धिको जल्दी सामने ला खड़ा करता है। इसी लालचमें पड़कर आदमी त्यागसे दूर पड़ जाता है। और तरह-तरहके रोग बिसा लेता है।

मल क्या है?

हमारी सारी दैहिक बीमारियाँ मल न त्यागनेके कारण होती हैं। हमारा सारा आर्थिक कष्ट धन-मल न त्यागनेके कारण होता है। हमारा सारा दासत्व अधिकार-मल न त्यागनेका फल होता है। हमारा सारा दुःख सुख-मल न त्यागनेका फल होता है। ये मल क्या हैं? जानता तो हरेक है पर उसपर ध्यान बहुत कम लोग देते हैं। यों तो यह एक अलग ग्रन्थका विषय है, पर कुछ प्रकाश यहां हम जरूर डालेंगे। उसकी मददसे पाठक आसानीसे विस्तार कर सकेंगे और ठीक-ठीक समझ सकेंगे।

बीमारीका कारण हमने बताया मल न त्यागना। यानी भोजनके मलको ठीक-ठीक न फेंकना। जिसमें उच्छ्वास, आंखका कीचड़, कानका मैल, नाककी सिनक, थूक, पसीना, मूत्र और मल शामिल है। इनसे बच्चा-बच्चा परिचित है। इसपर विशेष लिखना व्यर्थ है।

गरीबीका कारण हमने लिखा है—धन-मलका न त्यागना। यह सब कोई जानता है कि रुपयेको हाथका मैल बताया गया है। जब यह है तो उसे त्यागना पड़ेगा। एक लघु कथा सुनिए—

दो साधु एक साथ यात्रा कर रहे थे। कुछ दूर चलकर नदी आयी। नदी गहरी थी। उसे नावसे पार करना पड़ता था। नावका किराया एक

पैसा था। दोनों साधुमें-से एकके पास एक पैसा था। दूसरेके पास कुछ न था। पैसेवाला साधु पैसा देकर नावपर सवार हो गया। दूसरा किनारे-पर खड़ा रह गया। मल्लाहने पूछा, "साधु महाराज, क्या आप पार नहीं जायेंगे?" साधु बोला, "जायेंगे तो, पर हमारे पास पैसा नहीं।" मल्लाह बोला, "जब आपके पास पैसा नहीं तो आपको पैसा देना नहीं। मैं तो पैसा उन्हीसे लेता हूं, जिनके पास पैसा होता है या जिनके पास पैसा होना चाहिए। आपके पास न है और न होना चाहिए। फिर कैसा लेना और कैसा देना। आइए, बैठिए और पार उतरिए।" पार उतरकर दोनों साधु फिर साथ हो लिये, जिसके पास पैसा था वह साधु बोला, "पैसा पास रखना चाहिए वक़्तपर पैसा काम आता है। देखा! पैसेने कैसा काम दिया कि मैं झट नावमें सवार हो गया।" पैसा पास न रखनेवाला साधु बोला, "पैसा कहां आया काम! पैसेका त्याग काम आया। वह त्याग मैं पहले ही कर चुका था।"

अब पाठक समझ गये होंगे कि धन-मलसे हमारा क्या मतलब है? खाने-पहनने, पीनेकी सारी चीजें धनसे नहीं प्राप्त होतीं। धन, स्वयं श्रम-त्यागका फल है। और त्याग सब मल होते हैं। तभी तो धनको मैल कहा जाता है। श्रम स्वयं स्वास्थ्यका मैल है। न कीजिए श्रम और फिर देखिए क्या परिणाम होता है? कुछ ही दिनोंमें चारपाई आपको पकड़ लेगी या आप चारपाईको पकड़ लेंगे। मूर्खताको हमने ज्ञान-मल न त्यागनेका फल बतलाया है। ज्ञानमल किसे कहते हैं इसे सुनिए। जो ज्ञान हम प्राप्त करते हैं, वह हम इन्द्रियों और मनकी सहायतासे प्राप्त करते हैं। वह सब अधूरा और मैला होता है। ऐसा ही होता है। धरती-से निकला हुआ सोना या और कोई धातु या गन्नेसे निकला हुआ रस या और इसी तरहके रस। इन सबको साफ़ करना होता है यानी इनसे मल-को दूर करना होता है। यह है मल-त्याग क्रिया। ठीक इसी तरह कच्चे ज्ञानको यानी मूर्खताको पक्के ज्ञानमें बदलनेके लिए साफ़ करना पड़ता

है। उसका मैल अलग करना पड़ता है। इसी क्रियाका नाम है ज्ञान-मल त्याग। यह क्रिया इस तरह की जाती है कि हम अपने कच्चे ज्ञानको परीक्षणकी भट्ठीमें तपाते हैं। मैल दूर करते हैं। तब वह पक्के-सच्चे ज्ञानका रूप ले लेता है। इस साहित्यिक भाषाको बोलचालमें यों कहा जा सकता है कि जो कुछ हमने पढ़ा-लिखा है, वह उस समय तक पक्का ज्ञान नहीं कहला सकता, जबतक हम अपना पढ़ा-लिखा दूसरों तक न पहुँचायें या उसे काममें लाकर न देखें। यही कहलायेगी ज्ञान-मल क्रिया।

दुःखको हमने सुख-मल न त्यागनेका फल बतलाया है। सुख मैला होता है, उसको साफ़ करनेके लिए दूसरोंको सुख पहुँचानेमें लगना पड़ता है। यह हम ऊपर बता चुके हैं कि एकका मल दूसरेका भोजन है। इसलिए हमारे सुखका मैल दूसरेके लिए महान् सुखदायी हो सकता है। पर हमारे लिए वह दुःखदायी रहेगा। इससे सिद्ध हुआ कि दुःख और कुछ नहीं, सुखमल न त्यागना मात्र है। यह हुई साहित्यिक भाषा। बोलचालमें इसीको हम यों कहेंगे कि सुख दुःख ही का परिणाम है। दुःख कीचड़से उगा हुआ कमल है। खूब जोरकी मेहनतके बाद सुखकी नींद आती है। दिन-भर आरामसे लेटे रहनेपर रात करवटें, बदलते-बदलते कटती है। देख लिया आपने, न त्यागिए सुखका मैल। भुगतिए दुःख।

पागल कौन ?

यह सुनकर आप बिलकुल अचरज न मानिए कि पागल उसे कहते हैं जो बहुत बुद्धिमान् है। पागल आपको मूर्ख मिल ही नहीं सकता। आप कहेंगे कि हम यह क्या बक रहे हैं ? पागल तो महामूर्ख होता है। सारी दुनिया ऐसे समझती है, आप यह क्या बेपरकी उड़ा रहे हैं ? चण्डूखानेकी गप भी इतनी बेतुकी नहीं हो सकती। आपकी शंका दुरुस्त है। और हम भी दुनियामें-से एक हैं। हम पागलखानेके सुपरिण्टेण्डेण्ट तो नहीं रहे, पर तीन-चार पागलोंको भुगत चुके हैं। उसी अनुभवके आधारपर हम यह कहना चाहते हैं कि पागल हम सबके लिए सदा तो नहीं पर प्रायः निपट

मूर्ख होता है। और अपने लिए वह सदा ही बेहद ज्ञानी होता है। तभी तो वह मस्त और खुश रहता है। अपनी धुनमें तल्लीन रहता है। देहसे दूर आत्माके निकट वास करता है। जरा ग़ालिबका यह शेर सुनिए—

"बाज़ीचयें अतफाल है दुनिया मेरे आगे,
होता है शबो रोज़ तमाशा मेरे आगे।"

यानी यह दुनिया मेरे सामने बच्चोंका खेल है। और दिन-रात मेरे सामने तमाशा होता रहता है। यह पागलपन नहीं है तो क्या है? और यह बुद्धिमानी नहीं है तो और यह क्या है? ग़ालिब अगर हम लोगोंके लिए या अपने समयके लोगोंके लिए अपना ज्ञान दीवानके रूपमें न उगल पाते या न उगल सकते होते तो दीवाने हो गये होते। और फिर हम उन्हें पागल कहकर पुकार रहे होते। जिसे छन्दः शास्त्रमें यानी इल्मे अरूजमें तअल्ला कहा गया है, उसे पागलपन नाम दिया जा सकता है। ग़ालिबको सुनिए— "मैं न लूं मुश्ते खाक के बदले, गर मिले खातिमे सुलहमानी"। अगर मुट्ठीभर खाकके बदले मुझे सुल्हमान शाहकी जादूकी अँगूठी मिले तो मैं हरगिज न लूँ। ऐसी ही बातें तो पागल किया करता है। पर यह तो त्यागकी पराकाष्ठा है। इसे पागलपन कैसे कहा जाये। एक और सुनिए—

"ये मसायले तसव्वुफ़ ये तिरा बयान ग़ालिब,
तुम हम वली समझते जो न बादाख़्वार होता।"

यानी वाह रे ग़ालिब! क्या ही बढ़िया हैं तेरे दार्शनिक विचार और क्या ही बढ़िया है तेरी शैली। तू तो ऋषि कहलाने योग्य है। एक ही कमी है कि तू शराब पीता है। यह सब क्या है? ज्ञानका निचोड़ या पागलपनकी डींग! हाँ, तो हम यह कहना चाहते हैं कि जब कोई ज्ञानी या महाज्ञानी अन्दर-ही-अन्दर घुमड़ता रहता है और अपने कच्चे और मैले ज्ञानको परीक्षणकी भट्ठीके सुपुर्द नहीं करता और दूसरों तक पहुँचाकर उसके मैल या मलको त्याग नहीं करता तो वह हम दुनियादारोंके लिए

पागल हुए बिना नहीं रह सकता। यों हम पागलपनको ज्ञान-मल न त्यागने-का फल बता रहे हैं।

दो शब्दोंमें त्याग निहायत जरूरी चीज है और त्याग भी स्वाभाविक और हर तरहका। अगर आप इसके लिए तैयार हैं तो नेतृत्व आपके पास आनेको तैयार है। और आपके सामने ऐसे मैदान खोलेगा, जिससे आपकी तबीयत खिल उठेगी और फिर आप दिन और रात काममें लग-कर भी थकान महसूस न किया करेंगे ?

तप

तप शब्दका क्या वाच्य है, यह बताना मुश्किल है। यों तपका अर्थ तपना होता है। रिवाज़में इसका अर्थ होता है काय क्लेश। सारे तपस्वी काय क्लेशके आधारपर ही तपस्वी समझे जाते हैं, और पूजा-प्रतिष्ठाके पात्र समझे जाते हैं। ज्ञान प्राप्तिके बाद जिसने भी तपका विश्लेषण किया, उसने काय क्लेशको कभी तपसे नहीं जोड़ा। उसे तो मूर्खतासे जोड़ा। जो इस तरहका तप तपते हैं, उनके तपको बाल तप नाम दिया गया। जिस तपको नेता तपता है, वह कुछ और ही चीज़ होती है। उसका लक्षण हो सकता है 'इच्छा निरोधस्तपः' यानी इच्छाओंका रोकना ही तप है। एक उर्दू कविने इसीसे मिलता-जुलता शब्द कहा है—

"काट के फेंक दे जड़ नख़्ले त   कि अमीर,
फूल कम्बख़्त में आया न कभी फल आया।"

यानी अमीरका कहना है कि इच्छा आकांक्षाओंके पेड़की जड़ काटकर फेंक देनी चाहिए, क्योंकि इस पेड़में न कभी फूल लगे न फल आया। सचमुच इच्छाएँ ही हैं, जिनकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। नेतृत्वकी राहमें इनका रोकना अत्यावश्यक है। नेता वैसा अपने-आप कर लेता है। किसीको तो परिग्रह परिभाषामें जोर लगाना पड़ता है। नेताके लिए यह स्वाभाविक कार्य है। उसकी धोती अपने-आप छोटी होते-होते लंगोटीका रूप ले लेती है। उसे किसी आचार्यसे दिखा लेनेका ढोंग नहीं रचना पड़ता। जहाँ उसकी धोती लंगोटीमें बदल सकती है वहाँ उसकी लंगोटी धोतीमें भी बदल सकती है। जिस तरह तपका सम्बन्ध इच्छाओंके रोकनेसे है, न कि

कायाको कष्ट देनेसे; उसी तरह परिग्रहका सम्बन्ध मोह और ममताके कम करनेसे है। मूर्च्छाको घटानेसे है न कि धोतीको लंगोटी बनानेसे या लंगोटी छोड़ नंगे हो जानेसे। पुराणकारोंने भरत और जनक-जैसे पात्र खड़े करके अच्छी तरह समझा दिया है कि परिग्रह क्या है और अपरिग्रह किसे कहते हैं। ज्ञानियोंने परिग्रहका लक्षण किया है 'मूर्च्छा परिग्रह' यानी ममत्व ही परिग्रह है। मेरे तेरेकी जड़में ही परिग्रह है। इच्छाओं-को रोकनेवाला तपस्वी बिना प्रयासके अपने-आप अपरिग्रही बनता जाता है। ऐसा वह इसलिए करता है कि उसमें उसे सुख मिलता है।

श्रम बेकार नहीं जाता

तप ज्ञानकी वृद्धि करता है। ज्ञानपर पड़े परदेको फाड़ने–फेंकनेमें सहायक होता है। यह काम पाँच अग्निके ढेरोंके बीचमें बैठनेसे नहीं हो सकता। इसके लिए तो अपनी पाँचों इन्द्रियोंकी इच्छाओंको ज्ञानाग्नि-द्वारा भस्म करना होगा और वही सच्चा तप होगा। ज्ञानप्राप्तिके लिए गरमियोंमें धूप, जाड़ोंमें ठण्ड सहना आवश्यक नहीं। वर्षामें भीगने-की जरूरत नहीं। या इसी तरहके कायाको और कष्ट देनेकी जरूरत नहीं। मन और मस्तक है तो कायाके भाग्य ही, फिर भी उससे अलग है। यह भी ठीक है कि कायाके नष्ट होनेपर मन और मस्तक भी नष्ट हो जाते हैं और यह भी ठीक है कि कायाके कष्ट पानेसे मन और मस्तक उन्नत होनेके स्थानमें दुःखी हो उठें, और कुछका कुछ कर बैठें। तभी तो इस तरहके तपको बालतप नाम दिया गया है। क्या यह बात गलत है कि तपसे ऋद्धि-सिद्धि प्राप्ति होती है? नहीं, बिलकुल नहीं।

कोई भी श्रम व्यर्थ नहीं जाता। उसका फल हमें जरूर मिलता है। आग तपनेसे हमारा देह सहिष्णु बन जायेगा। धूप और सर्दी सहनेसे हमारी खाल कड़ी हो जायेगी। तभी तो पशुओंकी खाल आदमीकी खाल-से ज्यादा कड़ी होती है। पशु आजीवन गरमी-सर्दी-बरसात सहते रहते

हैं, यह कहना निरी भावुकता है कि ईश्वरने पशुओंकी खाल बड़ी मजबूत (कड़ी) बनायी और सूअरकी खाल तो बेहद कड़ी बनायी, यही हाल भेड़-बकरियोंका है। अगर इस भावुकतासे हटकर असलियतकी जाँच की जाये और विज्ञानकी मदद ली जाये तो पता लगेगा कि इस काममें ईश्वरका रत्ती-भर भी दखल नहीं है। सूअरके बच्चे बड़े मुलायम पैदा होते हैं। पर सर्दी-गरमी सह-सहकर वे अपनी खालको कड़ा कर देते हैं। जिन पौधोंको हवा नहीं लगती, वे बड़े मुलायम होते हैं। उनका रंग हरा या काला हरा न होकर पिलोयाँ होता है। जानवरोंके बच्चोंको अगर गरमी-सर्दीसे बचाकर रखा जाये तो दो-तीन पीढ़ीमें उनकी खाल बेहद मुलायम हो जायेगी। दस बीस या पचास सौ पीढ़ियोंके बाद तो उनकी खाल अजब नहीं आदमियों-जैसी हो जाये। अब पाठकोंने समझ लिया होगा कि किसी तरहका भी श्रम बेकार नहीं जाता। इसलिए कायाको कष्ट देनेवाली तपस्या भी बेकार नहीं जाती।

तपस्याका मर्म

एकनाथकी यह कथा है। वे रामेश्वरके महादेवपर चढ़ानेके लिए जो गंगोत्रीसे गंगाजल लाते हैं, उसको एक प्यासे गधेको पिला देते हैं। वह कथा आज तक भी न लोगोंकी मूर्खता कम कर सकी, न तपस्याका अर्थ खोलकर बता सकी। लोग उसी तरह गधोंको नहीं, प्राणि-श्रेष्ठ मनुष्योंको प्याससे तड़पते मरने दे रहे हैं और अपनी काँवरोंमें गंगाजली लटकाये रामेश्वरकी ओर बढ़ते चले जा रहे हैं। और उस श्रमको उस तपस्याका नाम दिये चले जा रहे हैं, जो ज्ञान पटलनाशक होती है। या जो ज्ञानप्रद होती है। विनोबाकी पदयात्रा बालतप नहीं समझी जा सकती। यह कितनी ही सुखद क्यों न हो, तपस्या ही गिनी जायेगी। काँवरवाली यात्रा कितनी ही दुःखद क्यों न हो, बालतप समझी जायेगी, समय नष्ट करने-वाली समझी जायेगी। क्योंकि वैसी यात्रा तो किसी अच्छे कामके लिए भी

की जा सकती थी। पगकी मजबूती तो दोनों ही में मिलती है। तपके वाच्यका जितना दुरुपयोग हिन्दुस्तानमें हो रहा है। उतना कहीं और नहीं। यहाँ तपको स्वर्ग मोक्षका कारण तो बतलाया। पर यह न समझाकर दिया कि तप कहते किसे हैं ?

अगर कोई आदमी सर्दी-गरमी सहकर पानीमें भींगकर किसी बीमारके लिए दवा ला देता है और उसका बदला नहीं चाहता तो वह तपस्वी है। नेता ऐसी तपस्या ही तो करता रहता है। असलमें औरोंके लिए जीना ही तपस्या है। अगर ध्यानसे देखा जाये तो हम अपने लिए कम और औरोंके लिए ज्यादा जीते हैं। माँ सुबहसे शाम तक औरोंके लिए ही तो काममें लगी रहती है। उसे तपस्विनी क्यों न कहा जाये ? अगर कोई माँ ज़रा ऊँची उठ जाये तो पंचाग्नि तपनेवाले और नग्न रहकर सर्दी-गरमी-बरसात सहनेवाले साधुओंसे कहीं ज्यादा पूज्य है ही, तपस्वी कहलानेवाले नेताओंसे भी ज्यादा पूज्य होनी चाहिए। गान्धीजी अपनी माँकी प्रशंसा करते कभी नहीं अघाते थे। पर दुनियाने उस देवीके नामसे कोई समाधि नहीं खड़ी की। जब कि उसके भक्तकी समाधि दिल्लीमें राजघाटपर मौजूद है। दुनियाकी लहर भूकम्पकी लहर-जैसी होती है, जिसको चाहे उठा दे, जिसको चाहे गिरा दे। ध्यानसे देखा जाये तो गृहस्थी साधुसे कहीं अच्छा तपस्वी है। पर जिस तरह हम अपना चेहरा आप नहीं देख सकते उसी तरह हम अपनी तपस्याका आप दर्शन नहीं कर सकते। चेहरेके लिए शीशेकी ज़रूरत पड़ती है। तपस्याके लिए तपस्वियोंकी जरूरत पड़ती है। जिस तरह शीशेमें हम नहीं रहते, हमारी छाया होती है, उसी तरह तपस्वीमें तपस्या नहीं रहती, हमारी तपस्याकी छाया रहती है। हमारा चित्र हमसे ज्यादा सुन्दर होता है, ज्यादा लुभावना होता है। दृश्य स्थानोंके चित्रोंका भी यही हाल है। वैसे ही गृहस्थीकी तपस्याका प्रतिबिम्ब साधु बड़ा सुन्दर लगता है। लुभावना मालूम होता है। पर वह असलियत नहीं हो सकता। किसे नहीं मालूम

कि कभी-कभी किसी कलापूर्ण चित्रके दाम उस आदमीसे ज्यादा लग जाते हैं, जिसका वह प्रतिबिम्ब होता है। नेताकी नजर अगर इन मूल्यों-पर गयी तो उसका पतन हुए बिना न रहेगा। इन मूल्योंके कारण अगर वह मैदान छोड़ योगी और महायोगी बन बैठा, तो पूजा तो जरूर ज्यादा पा जायेगा, पर जाने अनजाने इस कर्मठ दुनियाके एक बड़े भागको अकर्मण्य जरूर बना जायेगा। इस लालचसे नेताको बचकर ही रहना चाहिए।

योगीका कौशल

महावीर, बुद्ध जितने हम तक पुराणकी राहसे पहुँचते हैं उतने इतिहासकी राहसे नहीं। सच्ची घटनाओंकी राहसे तो बहुत ही कम या बिलकुल नहीं। फिर भी जो कुछ हमारे पल्ले पड़ा, उसके आधारपर हम कह सकते हैं कि वे पहले योग और तपस्याके चक्करमें पड़े। पीछे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। वे ज्ञान प्राप्तिके बाद सच्चे तपस्वीके रूपमें घूम-घूमकर समाजका हर तरहका दुःख दूर करनेमें लग गये। इच्छाओंके निरोधसे जो तप उत्पन्न होता है, उसकी तपन कुछ और ही होती है।

यह किसे नहीं मालूम कि पित्त प्रकृतिवाला बालक निश्चल बैठ ही नहीं सकता। खूनकी गरमी उसे इधर-उधर दौड़ाये फिरती है। फिर सच्चा तप कैसे पहाड़की गुफामें जाकर समाधि लगानेको तैयार कर सकता है? नेता और आराम, नेता और समाधि। ये एक जगह कैसे रह सकते हैं? हिटलर जर्मनीका नेता था। वह राजकाजी ही नेता सही, पर नेता था। उसे बहुत कम नींद आती थी। महायुद्धके दिनोंमें तो उसे नींद ही नहीं आती थी। नींदकी दवा देकर उसे जबरदस्ती सुलाना पड़ता था। इतिहास गवाह है। अकबर तीन घण्टे सोता था। फिर कहिए नेता कैसे स्थिर बैठ सकता है। स्थिर तो वही बैठ सकता है जो जिम्मेदारियोंसे हाथ खींच ले। यह तुलना धोखेसे भरी है कि घड़ीकी

सूईकी नोक जितना घूमती है, उसका सौवाँ हिस्सा भी केन्द्रीय कील नहीं घूमती। इसलिए समाधिस्थ साधु केन्द्र बिन्दु बने रहते हुए भी बहुत काम करता रहता है। यह घड़ीकी कील नहीं होती जिससे घड़ीकी सूई शासित होती है। वह तो खुद ही शासित हो रही होती है फनर और बालकमानीके द्वारा। वह नगण्य है। पर समाधिस्थ साधु तो इस नगण्यसे भी नगण्यतर और नगण्यतम होता है। सत्श्रद्धापर स्थापित सद्विचार किसीको भी सत्कर्ममें लगाये बिना नहीं छोड़ेंगे। वह विचार नहीं, विचाराभास है जो कर्ममें परिणत नहीं होता। वह मैटर नहीं, मृत मैटर है, जो इनर्जीका रूप नहीं लेता। यानी पदार्थको अपदार्थ कहना चाहिए, जो शक्तिमें न बदल सकता हो। इसी तरह वह योगी, योगी नहीं जो अपने योगको कर्मरूपी चमत्कारमें बदलनेकी शक्ति नहीं रखता। मेरी माँ गरमीसे तड़प रही है। मैं आलसी नालायक उठकर उसकी सेवा नहीं करता। इतनेमें मेरे अन्दर भक्ति जागती है। पंखा झलनेका विचार उत्पन्न होता है तो अब यदि मैं विचारसे ही पंखा झलता रहूँ तो यह समझना चाहिए कि मुझमें जो भक्ति जागी है वह झूठी, मिथ्या है। सच्ची भक्तिसे जो पंखा झलनेका विचार उत्पन्न होगा वह तो मेरे पाँवमें स्प्रिंग या फनर जोड़ देगा और मैं कूदकर पंखा झलने लगूँगा। यह सेवा करके अगर मैं अपनेको धन्य समझने लगूँ, आनन्द मानने लगूँ, आनन्द विभोर हो उठूँ तो यह सारा सुख भी तपस्या नामसे पुकारा जायेगा। नेताओंको चाहिए या उनको चाहिए जो नेताकी राहपर आरूढ़ होनेकी सोच रहे हैं कि वे इस तरहकी मिथ्या तुलनाओंके भ्रममें न पड़ें।

यह ठीक है कि लट्टू जब बहुत जोरसे घूमता है तो उसका घूमना हमारी आँखोंको नहीं दिखाई देता, पर हमारे ज्ञाननेत्र उसे भली-भाँति देख रहे होते हैं। क्योंकि हमींने तो उसे डोरी बाँधकर फेंका होता है। और घूमनेके काममें लगाया होता है। हमारी बाहरी आँखें भले ही उसे सोया हुआ या समाधिस्थ मान लें, पर हमारा मन कदापि यह मान्यता

नहीं देगा। लट्टू तो उस वक्त अपना पूरा ज़ोर लगाकर धरतीमें गढ़ा बना रहा होता है। मिट्टी फेंक रहा होता है। वह अकर्मण्य बना एक नथुनेसे साँस लेकर दूसरे नथुनेसे साँस नहीं निकाल रहा होता। इसलिए उस कर्मठकी तुलना उस योगीसे कर बैठना जो गुफामें बैठा भजन कर रहा होता है, भारी भूल समझी जानी चाहिए। कबीरने इसपर खूब प्रकाश डाला। उसने तो उस सबको समाधि कह डाला है, उस सबको योग नाम दे दिया है जो एक आदमी समाजके लिए किसी भी भलाईमें लगता है। उसने तो उसके खाने-पीने तकको समाज-सेवा नाम दे डाला है। इसलिए जो नेता बनना चाहते हैं, उन्हें इस तरहके मिथ्या साम्योंसे (सिमिलीज़) दूर रहना चाहिए।

नेताकी राह

हमारे पण्डितों, ज्ञानियों और ऋषियोंकी भूल है कि उन्होंने कायाके कष्टको तपस्या नाम दे डाला—या हमारी समझमें कमी है कि हम काया-कष्टको तपस्या समझ बैठे। हमने एक ग्रन्थमें बाईस तरहके दुःख पढ़े हैं। इन दुःखोंमें-से उन्नीस तो एक साथ आ सकते हैं। वे सब ठीक सही, पर माथा तो यहाँ आकर ठनकता है कि उसी ग्रन्थने यह भी लिख मारा है कि इन सब दुःखोंमें साधुको कूद पड़ना चाहिए। राजपूतानियोंके जौहर-की बात हमने सुनी है पर क्या उसे तपस्या नाम दे दें? फिर तो आगमें कूदकर मर जाना ही तपस्या रह जायेगी। ज़रा एक कविकी सुनिए—

"निस्बत न सती को दो पतिंगे के तईं,
है इनमें और उसमें इलाक़ा भी कहीं।
वह आग में जल मरती है मुरदे के लिए,
ये गिर्द बुझी शमा के फिरता भी नहीं।"

यानी पतिंगेको सती-जैसा मत समझो। सती तो मरेके लिए जान देती है पतिंगा तो मरी हुई लौ यानी बुझे हुए दीयेके पास भी नहीं फट-

कता। अब जरा दूसरी बात सुनिए। वह यह कि वह सती कुछ नहीं जो दुनियाकी तकलीफ़ोंसे डरकर अपने पतिके साथ जल मरती है। सती तो वह है जो बरसों जीकर सब तरहकी तकलीफ़ उठाती हुई अपने पतिके उठाये हुए कामको पूरा करती है। जैसी आजकल लंकामें वहांके प्रधान मन्त्री भण्डारनायककी स्त्री कर रही है। मतलब यह कि हमारी राहमें ऋषियोंकी भिन्न-भिन्न राय, स्मृतियोंका भिन्न-भिन्न कथन, पुराणोंके अलग-अलग लेख आयेंगे। पर हमें उन सबसे सतर्क रहना होगा। नेताकी हैसियतसे हमें वही राह अपनानी पड़ेगी जो अकर्मण्यतासे दूर हो।

विचार कब प्राणवान् होते हैं ?

सचमुच इच्छाओंको काबूमें रखना ही सबसे बड़ा तप है। इसका परिणाम यह होता है कि हमारी विचार-शक्ति जो अबतक बे पहियोंकी थी और इच्छाओंके बोझके कारण कर्मक्षेत्रमें बढ़ ही नहीं पा रही थी, वह अब दो पहियोंकी गाड़ी बन जाती है और समानान्तर चलनेवाले दो पहिये नहीं, एक धुरीमें जुते दो पहिये आगे-पीछे रहनेवाले दो पहियोंवाली गाड़ी। यानी बाईसिकिल। जैसे बाईसिकल बेजान है अपने-आप निकम्मी वैसे ही विचार शक्ति निष्प्राण है यानी अपने-आप बेकार। उसे तो कर्म-क्षेत्रमें उतारना ही पड़ेगा। तभी वह उपयोगी सिद्ध होगी। जैसे बाई-सिकिलको हमारे पाँव चलाते हैं हम तो सीटपर बैठे रहते हैं। ऐसेमें कोई यह समझ सकता है कि हम अकर्मण्य हैं और बाईसिकिल हमे लिये जा रही है। पर यह समझनेवालेकी भूल होगी। हम बाईसिकिलको लिए जा रहे हैं। अगर हम पाँव चलाना छोड़ दें तो बाईसिकिल धमसे गिर पड़ेगी। और साथमें गिरेंगे हम। और अगर कहीं उसकी हवा निकल गयी तो फिर हम चल रहे होंगे और वह गाड़ी हमारे कन्धोंपर सवार होगी। बस विचार-शक्ति कर्ममें जुतकर ही हमारी सवारीमें रह सकती है। कर्मसे अलग वह हवा निकली बाईसिकिलके समान हमारे कन्धोंपर

बोझा बनी रह सकती है। वह तपस्वी ही नहीं जो विचार-शक्तिपर सवार नहीं। विचार-शक्तिपर सवार होनेका ही नाम योग है। गीताकार-ने कर्मकी कुशलताको ही योग कहा है। भला कर्ममें कुशल निठल्ला कैसे बैठ सकता है? मेरे पिताजी इंजिनियर थे। मैंने कई बार उन्हें लेटे-लेटे उँगलोंसे हवामें काम करते देखा। वे मनसे सोचते थे और उँग-लियोंसे काम लेते जाते थे। सचमुच विचार-शक्ति मनुष्यको चुपचाप नहीं रहने दे सकती। स्वप्नमें तो हम सो रहे होते हैं। लेकिन कोई स्वप्न ऐसा नहीं होता, जिसमें हम काम न कर रहे हों। इसलिए यह असम्भव है कि विचारशील तपस्वी समाधि लगाकर बैठे। जिसके ऊपर विचार-की साईकिल सवार है, वह बोझल भर रहा है। वह नेता बननेकी न सोचे। नेता बननेके लिए उसे निष्काम कर्मकी हवा पहियोंमें भरनी होगी और विचार-शक्तिपर सवार होकर कर्म-क्षेत्रमें दौड़ लगानी होगी और यह होगी उसकी तपस्या।

तपस्वी

वह तप तप ही क्या जिसे तपस्वी तपके रूपमें करे। तपस्वी तो वही है जो न तपको जानता है न तप करता है। वह तो केवल दूसरोंको तपस्वी-सा दीख पड़ता है। जिसे लोग तपस्या कह रहे होते हैं उसे वह क्रीड़ा और खेल समझ रहा होता है—उसमें आनन्द ले रहा होता है। अगर ऐसा न होता तो क्या नेताके चेहरेपर हरदम हँसी खेल सकती थी? तब तो हमें तपस्वीकी पहचान भी यही बनानी पड़ेगी। तपस्वी वह जो हमेशा प्रसन्न वदन दिखाई दे। खोटी तपस्या भी आकर्षण रखती है। पर यह हँसती हुई सच्ची तपस्या जो आकर्षण रखती है वह अपने ढंगका अलग होता है। वह दो के लिए लाभकारी नहीं सबके लिए लाभ-कारी होता है।

कहिए, अब आपने तपस्याको समझ लिया न? कहीं व्रत-उपवासको

तपस्या न मान बैठना। आप उन्हें स्वास्थ्यके लिए भले ही करें। पर हाँ, अगर वे व्रत उपवास इच्छा निरोधका फल हैं तो अपने-आप तपस्या बन बैठेंगे। आपके समझने न समझनेसे कोई सरोकार नहीं। हमारी सलाह तो यही है कि तपस्याकी ओरसे बेफ़िकर रहकर ही तपस्या आपका साथ देगी। और आपका काम तेज़ीसे आगे बढ़ानेमें आपकी सच्ची सहायक होगी।

लोक-संग्रह

नेतापनेका अगर स्वतन्त्र अस्तित्व मान लें, तब यह कहना पड़ेगा कि उसका जन्म सत्य श्रद्धामें होता है। विनय-सम्पन्नता और शील-सम्पन्नता उसका लड़कपन है। ज्ञानोपयोग, सन्तोष, त्याग और तप उसकी विद्यार्थी अवस्थाकी ऊँची-ऊँची परीक्षाएँ हैं। और यह लोक-संग्रह उसकी गार्हस्थ्य अवस्था है।

लोक-संग्रहकी कुंजी

लोक-संग्रहकी कला आये बिना नेता नेता कहलाने योग्य नहीं होता। लोक-संग्रहकी कला ऐसे लोगोंको भी प्राप्त हो जाती है, जो पहले गिनायी हुई सात अवस्थाओंमें होकर नहीं निकल चुके होते। पर ऐसे नेता जल्दी ही अपना नेतृत्व खो बैठते हैं। पक्के नेता वही होते हैं जो पहली अवस्थाओंकी मिट्टीमें होकर निकल चुके होते हैं। उनमें लोक-संग्रहके लिए सहज आकर्षण अपने-आप खिल उठता है। त्याग और तपस्या गुण ही ऐसे हैं जो जन-सामान्यको आकर्षित किये बिना नहीं रहते। भले ही त्याग स्वार्थमें भीगा हो और भले ही तपस्या भी खोटी तपस्या हो। यानी निरा काय क्लेश हो। जब कुत्याग और कुतप इतनी प्रतिष्ठा पा जाते हैं। तब सुत्याग और सुतप कितनी प्रतिष्ठा और आदरके पात्र होंगे, इसका अनुमान पाठक स्वयं कर सकते हैं। तपस्या आदमीमें आकर्षण तो पैदा करती ही है, पर साथ ही साथ मनुष्य स्वभाव पहचाननेकी शक्ति भी करती है। यह शक्ति लोक-संग्रहमें बड़े कामकी साबित होती है।

त्यागके साथ विनम्रता मिलकर और तपस्याके साथ शील मिलकर

जो काम कर डाल सकते हैं वह दूसरी कोई ताक़त नहीं कर डाल सकती। नेताको साधु और असाधुसे समान प्रेम होना चाहिए और वैसा होता भी है पर साधु असाधुमें वह अन्तर जरूर करता है। क्षीर-नीर मिलकर रह लेते हैं। एकमेक बने रह सकते हैं। फिर भी अग्नि और हंस क्षीर-नीरको जुदा कर सकते हैं। ठीक इसी तरह विवेकी नेता इन दोनोंको समझ लेता है। जिस तरह दूध और पानी दोनों ही मनुष्यके लिए उपयोगी हैं, वैसे ही साधु-असाधु दोनों ही समाजके लिए उपयोगी हैं। हाँ, अपनी-अपनी जगह। साधुओंको नेता आदर देता है, असाधुओंको प्यार। साधुओंसे सीधे सीख लेता है। असाधुओंसे नासीधे सीख पाता है। तभी तो उन्हें प्यार करता है। लोक-संग्रहके लिए यह सब करना जरूरी है। तपस्या और त्यागके बलपर नेता नवीन संगठन खड़े करनेमें बड़ी जल्दी सफल होता है। लोगोंकी समझ तो यह है कि व्यक्ति विशेष ही समाजको अच्छी राहपर लगाता है और वही समाजका उत्थान करता है। इसी कल्पनाके आधारपर ईश्वरावतरण क्रियाकी पुष्टि हुई। वेद अपौरुषेय माने गये। हजरत मोहम्मदपर भी वही (यानी ईश्वरका सन्देश) उतरी। इत्यादि। पर बात ऐसी नहीं है। हम अवतार, अपौरुपेयत्व और वही उतरनेके विश्वासी नहीं हैं होता असलमें यह है कि नेताका वर्ताव बड़ी जल्दी दूसरोंमें उन गुणोंका प्रादुर्भाव कर देता है, जो नेतामें चमक उठे होते हैं। इसलिए वह अकेला नेता ही नहीं होता जो समाजका संगठन करता है। वह अकेला कुछ कर भी नहीं सकता। करनेवाली होती है समिति। नेता भी इसका एक सदस्य होता है। और यही समिति संगठन और उत्थानके काममें लगती है। नेता तो चल बसता है, समिति अगर अमर नहीं होती तो लम्बी उमरवाली जरूर होती है। समितिहीन नेता नेता पदको प्राप्त नहीं कर सकता। वह और कुछ भले ही हो जाये। जो नेता बनना चाहते हैं, उन्हें इस बातको ध्यानमें रखना चाहिए। पूर्व कथित परीक्षणोंमें पास हुआ नेता वैसा ध्यान रखता ही है।

सफलताकी कसौटी

लोक संग्रहके लिए विनय और शील निहायत जरूरी होते हैं। इन-पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। हर सफल नेतामें यह दोनों रहते ही हैं। विनय गुणके जरिये नेता साधुओंका संगठन कर सकता है। साधुओंमें अपनी जगह बना सकता है। उनसे प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। उनसे संगठनमें सहायता पा सकता है। उन्हींमें-से तो वह अपनी समिति तैयार करता है। जिस तरहसे बेटा या बेटे बूढ़े बापको सँभालते हैं। यद्यपि वे अपने बापके पैदा किये और पाले-पोसे होते हैं। उसी तरह समिति भी नेताको सँभालने लगती है। भले ही उसका संगठन नेताने किया हो। समिति जितनी ही बलवान् और स्वाधीन होती है, उतना ही नेताको सफल समझना चाहिए। नेता डिक्टेटर या तानाशाह नहीं हुआ करता। अगर कोई ऐसा है, तो वह असफल नेता है। और वह जरूर उन सब गुणों या उनमें-से कुछ गुणोंसे हीन है जिनका कथन हम ऊपर कर चुके हैं। तानाशाही और सच्ची नेतागिरी साथ-साथ नहीं रह सकती। तानाशाह स्वार्थी और मानी होता है। नेता स्वार्थी और विनयी होता है। ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? इसलिए सच्चे नेताकी समिति सबल होते हुए स्थायी भी होती है। नेता साधु पुरुषोंको जहाँ प्यार करता है, वहाँ बड़ा सम्मान भी देता है। भले ही उससे कुछ कम हों, पर वह उन्हें बराबरका समझता है। और अपने अवसानसे पहले उनमें-से हरेकको अपनेसे बड़ा, अपनेसे ज्यादा बुद्धिमान्, अपनेसे ज्यादा आत्मविश्वासी बना जाता है।

सबसे ज्यादा वही नेता सफल है जिसकी समिति सत्कर्मों-द्वारा और समाजकी सच्ची सेवा-द्वारा समाजसे उस नेताको इतना तो भुला ही दे कि उसे वह यह कहकर याद न करें कि वह होता तो यह न होता। उसी पुत्रका बाप सफल है जो उसको यादको भुलवा दे। वह पुत्र ही क्या जिसके साथी आये दिन उसके बापको याद किया करें। और उसे उसके

बापकी याद दिलाया करें।

साधु पुरुषोंसे हमारा मतलब भले आदमियोंसे है। न भिखारियोंसे, न रंगे या नंगे साधुओंसे। न उनसे जो पत्थरकी मूर्ति बने पहाड़ोंकी कन्दराओंमें बैठे ईश्वर-प्राप्तिमें तल्लीन हैं। वे सब साधु हैं, जो अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखकर अपने मनके घोड़ेको लगाम लगाकर समाज-सेवामें ऐसे जुटे रहते हैं, जैसे हवा आकाशमें बहकर प्राणिमात्रको प्राण देती रहती है। या जैसे धूप ताप और चन्द्रमा शीतलता दान करता रहता है। या जैसे वृक्ष और जड़ी-बूटियाँ अपने फलों पत्रों-द्वारा समाजका उपकार करती रहती हैं। ऐसे ही भले आदमियोंकी नेता समिति बनाता है। और उनको अपनेसे बड़ा समझकर अपने-आप ऐसे ही बड़ा बना रहता है, जैसे बाप अपने छोटे बेटेको कन्धोंपर बैठाकर बड़ा बना लेता है। या जैसे घोड़ेपर सवार दूल्हे बने बेटेके साथ-साथ चलकर बाप अपने बड़प्पनको हानि न पहुँचाकर चार चाँद लगा रहा होता है।

असाधुसे अपनापन

हम पहले ही कह चुके हैं कि नेता असाधुओंसे घृणा नहीं करता। वह किसीसे भी घृणा नहीं करता। जिसका मन्त्र 'सर्वेषु मैत्री' है, वह मित्रोंसे क्या घृणा करेगा? उसका न कोई अमित्र होता है न वैरी। वह तो असाधुओंके लिए जीता है। अमित्रोंके लिए जान देता है, अगर संसारमें असाधु न होते तो नेता पैदा ही न हुआ करते। उनकी आवश्यकता ही क्या रह जाती? यह सुनकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि जो दुःखी या रोगी है, वह असाधु है। उसने जरूर कोई असाधुता की है, तभी तो वह दुखिया रोगका शिकार हुआ है। हम चोर और डाकुओंको दुष्ट नहीं कहते। उनके लिए दण्डके विधानको व्यर्थ समझते हैं। इतना ही नहीं अन्याय समझते हैं। हम उन्हें रोगी कहते हैं। उनके इलाजके लिए नीति विधान पर्याप्त है। वह इसलिए कारगर नहीं हो रहा है कि क़ानूनन चोर

और डाकू दण्डकी पकड़में नहीं आये। दुष्टता पूजा पाती चली जा रही है। इसलिए असाधुता दुष्टता नामसे पुकारी जाने लगी है। समाजका ज्यादा भाग भूला-भटका होता है। वह घृणाका पात्र नहीं होता, सहानुभूतिका पात्र होता है, प्यारका पात्र होता है। और सन्नेता यही दोनों उन्हें देता है और यही देकर लोक-संग्रहमें सफल होता है। वह असाधुको प्यार न करे तो और करे क्या? आखिर अपने प्यारको बरसाये किसपर? चटियल मैदानपर किसान कुएँसे पानी नहीं दे सकता। नदी भी उस ओर ध्यान नहीं देगी। पर वर्षा उसे कैसे भुला सकती है? वह तो उसपर बरसेगी ही। जोरसे बरसेगी, उसमें घास उगाकर मानेगी। उसमें मेंढक फुदकाकर मानेगी। उसकी मिट्टीमें पंख लगाकर मानेगी। वैसे ही नेता अपनी साधु समितिके साथ उन असाधुओंपर आ बरसता है, जिसे समाजका बहुत-सा भाग ऊसर यानी पतित समझे होता है।

बहुत बड़ा शहतीर गधे, घोड़े और ऊँटके लिए भारी हो सकता है। पर हाथीके लिए नहीं। वह तो उसे अपनी सूँडमें दबाकर ऐसे चल सकता है जैसे चीटी मुँहमें तिनका दबाकर। ठीक इसी तरह जो काम समाजके लिए असम्भव है, वह नेता और उसकी साधु समितिके लिए कुछ भी नहीं होता। तभी तो समाज नेताके काम देखकर वाह-वाह करने लगती है। दाँतों तले अँगुली दाब लेती है। और थोड़े ही समयमें उसकी अनुयायी बन जाती है। लोक-संग्रहका जो काम असम्भव-सा दिखलाई पड़ता था, वह सम्भव दिखलाई देने लगता है। और सम्भव हो जाता है।

नेताकी अनिवार्यता

नेताकी राहमें यह लोक-संग्रह कहाँसे आ घुसता है? यह सवाल है तो बेतुका, पर जवाब इसका सीधा-साधा है। नेता तो किसी जमातका ही हुआ करता है। अपने नेता तो सभी हैं। यह दूसरी बात है कि हममें-से बहुत कम यह समझते हैं कि हम अपने नेता हैं। और जो यह समझने

लगता है कि मैं अपना नेता आप हूँ, उसे जल्दी या देरमें समाज अपना नेता मानने लगता है। क्योंकि जिस तरह हमारी सब इन्द्रियों और मनको किसी नेताकी आवश्यकता होती है, वैसे ही समाजको भी होती है। बस यही कारण है कि नेता जमातसे जुड़ जाता है और इसीका नाम है लोक-संग्रह।

लोक-संग्रही नेताकी नजरसे साधु पुरुष नहीं बच पाता जैसे मोती सागरकी तलमें सीपके पेटमें बैठकर भी गोताखोरकी नजरसे नहीं बच पाता, वैसे ही साधु नेताकी नजरसे नहीं बच पाता। गोताखोर सागरसे मोती निकाल लाता है, पर वह शोभा बढ़ाता है किसी औरके गलेकी। ठीक इसी तरह नेता कोने-कोनेसे साधुओंको ढूँढ़ निकालता है, पर वे शान बढ़ाते हैं समाजकी और गलेका हार बनते हैं अपने प्रशंसकोंके। नेताको तो इतना ही आनन्द मिलता है कि उसने उन्हें अँधेरेमें-से उजालेमें ला रखा होता है।

सच्चे नेताओंकी सदा आवश्यकता बनी रहती है। और सदा आवश्यकता बनी रहेगी, क्योंकि समाज भी कब एक-सा रहता है। यों तो वह हर साल नया बन जाता है, पर दस-पन्द्रह बरसमें तो वह कायापलट ही कर डालता है। आजके बच्चे ही तो कलके जवान होंगे। और बच्चोंकी हैसियतसे उनमें क्रोध, मान, माया, लोभ सब ही होंगे। विशुद्ध तो कोई पैदा होता नहीं, इसलिए एक-दूसरेमें टक्कर होती है। एकको दूसरेके प्रति घृणा उत्पन्न होती है। इस दुरावकी तहमें कोई असलियत नहीं रहती, कोरी नासमझी रहती है। उस नासमझीको दूर करनेके लिए ही नेताओंकी आवश्यकता होती है। यों नेताओंकी जगह हमेशा खाली बनी रहती है।

कसौटी

नेता जब भी कोई काम उठाता है, तो वह नया न होते हुए भी नया

होता है। आज़ादीके कामको ही ले लीजिए। वह नयी है उनके लिए जो गुलाम है। वह पुरानी है उनके लिए जो भोगते चले आ रहे हैं। गुलामी आज़ादीकी बात सुनकर हँस देगी। हँसनेसे हमारा मतलब यह नहीं है कि वह ख़ुश होगी। हँसनेसे हमारा मतलब है कि वह अचरजमें पड़ जायेगी। उसके लिए आज़ादी ऐसी ही चीज़ है जैसे पट्टीपर किटकन्ने भरनेवाले बालकके लिए जल्दी-जल्दी लिख डालनेकी बात, या जैसे छोटे बच्चेके लिए मूँछें उगानेकी बात। गुलाम जिसे असम्भव समझता है, वह उसे अचानक मिल जाये या मिल जानेकी बात सुने तो वह हँसे नहीं तो क्या करे? ठीक यही हाल नेताको देखनेको मिलेगा। वह जब भी कोई नयी बात उठायेगा, समाज उसकी खिल्ली उड़ाये बिना न रहेगी। इस खिल्लीकी कसौटीपर पूरा उतरनेके बाद ही साधु पुरुषोंकी सहायतासे उसके पाँव जम पायेंगे। और जैसे ही जमे कि समाज उसके विरोधमें खड़ा हो उठेगा। यह बड़ी ज़बरदस्त परीक्षाकी घड़ी होगी। इस विरोध-में टिकना आसान काम नहीं, उसमें टिके रहनेके लिए ही तो पिछले पन्ने रँगे गये हैं। मगर पिछले पन्नोंमें जो कुछ लिखा गया है, उसे किसीने पूरी तरह हृदयस्थ कर लिया है, तब कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो नेताको नेता बननेसे रोक सके, विरोधके लिए विरोधकी ज़रूरत नहीं। आग, आगसे नहीं बुझा करती। वह तो अनुरोधसे ही क़ाबूमें आयेगा। पानीकी मुलायम बूँदें अगर पत्थरमें गड्ढा कर लेती हैं और मुलायम रस्सी कुएँकी सिलपर निशान डाल सकती है तो निरन्तर काममें लगे रहनेसे क्या समाजका विरोध मिटाया नहीं जा सकता? कैसा ही क्यों न हो, समाजका घोर विरोध भी अपने पेटमें सहानुभूति और प्रेम छिपाये रहता है। और वह जल्दी या देरमें प्रकट होकर ही रहता है। इसलिए कभी-कभी इस तत्त्वसे अपरिचित जवान समाजसे बिलग बैठता है। हार मान लेता है और चुपचाप बैठ जाता है या गुफाकी शरणमें बैठता है और तपस्वी होने-का दावा करने लगता है। ऐसे आदमीको असफल ही कहना चाहिए।

पर सच्चा नेता अपनी लगनका पूरा नेता, हमारी परीक्षाओंमें पास हुआ नेता, कभी क़दम पीछे हटानेकी नहीं सोचता। वह जल्दी या देरमें विरोधको खतम करके ही छोड़ता है। इसके बाद समाज उस नेताको अपना लेती है, वह समाजका हो जाता है और समाज उसकी हो जाती है। इसीको यों भी कहा जा सकता है कि विरोधकी भट्टीमें-से निकलकर नेता सौ टंचका सोना बन जाता है।

नाज़ुक स्थिति

नेताके लिए यह वह स्थान नहीं होता, जहाँ उसे पहुँचनेका है। यह तो असलमें वह स्थान होता है, जहाँसे उस पहाड़की चढ़ाई शुरू होती है, जिसकी चोटीको उसने लक्ष्य बना रखा होता है। यह वह स्थान होता है, जहाँ उसे अपनी सारी शक्ति संगठित करके पूरा ज़ोर लगाना पड़ता है। उसे समाजके विचारोंकी कायापलट करनी होती है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि लोक-संग्रह तो गृहस्थीमें प्रवेश करने-जैसा है, जो बड़ा सुख-कर प्रतीत होता है। पर जैसे-जैसे गृहस्थीका बोझा सिरपर आता है वैसे-वैसे ज़िम्मेदारी बढ़ने लगती है। और सारा आनन्द उड़ता हुआ-सा मालूम होने लगता है। पर यह ज़्यादातर होता है उसके साथ जिसको अचानक गृहस्थीके काममें जोत दिया होता है। पर जो समझ-बूझकर इस गाड़ीमें जुतता है वह तो एक क्षणके लिए भी अपने आनन्दको अपने हाथसे नहीं जाने देता। ठीक इसी तरह जो नेता पूरी तैयारीसे लोक-संग्रहके काममें प्रवेश करता है वह ज़िम्मेदारी सिरपर आनेपर भी वैसे ही हँसता रहता है, जैसे मानो उसपर कोई ज़िम्मेदारी आयी ही न हो।

जन-साधारण जितने ज़ोरसे नेताका विरोध करता है, उससे दोगुने प्यार और भक्तिसे फिर वह उससे चिपटता है। समाजरूपसे और अलग-अलग व्यक्तिगत रूपसे लोग उसके सामने अपना दिल खोलकर रखते हैं, तरह-तरहकी शंकाएँ खड़ी करते हैं, उलझी हुई गुत्थियाँ पेश करते हैं,

अनूठे और पेचीदा प्रश्न पूछते हैं और तो और घरेलू झगड़ोंके फ़ैसले भी उसीसे कराना चाहते हैं। थोड़े शब्दोंमें जन-साधारण उसे भगवान्‌का अवतार ही मानने लगते हैं।

यह बड़ा नाजुक समय होता है। अधकच्चे या कच्चे-पक्के नेता अकसर अपना संयम खो बैठते हैं। योगभ्रष्ट हो जाते हैं। पर ऐसा होनेपर भी वह प्रतिष्ठा नहीं खो पाते, जो समाजसे मिली हुई होती है। उनकी नेता-गिरीकी गद्दीको भी कोई धक्का नहीं पहुँचाता। जिस तरह राजाको गद्दी-पर बिठाना आसान है, पर गद्दीसे उतारना बहुत मुश्किल है। जैसे किसी-को मन्त्री या प्रधान मन्त्री बना डालना आसान है। राष्ट्रपति बना डालना आसान है, पर उनको उस पदसे हटाना असम्भव नहीं तो महा मुश्किल ज़रूर है। वैसे ही सामाजिक या धार्मिक नेता गद्दीपर तो आसानीसे बिठा दिया जाता है, पर वहाँसे हटाया नहीं जा सकता। हटाये कैसे? नेताका अर्थ ही है—प्रभुता प्राप्त व्यक्ति। यह नेताकी मरजीपर है कि वह भला बना रहे या बुरा बन जाये। तुलसीदासजीकी यह उक्ति गहरे अनुभवका निचोड़ है कि 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं'। इस लालचसे जो छुट्टी पा गया वही समाजका कुछ भला कर सकता है।

समाजका मर्ज़

नेताको इस तरह अटल गद्दी प्राप्त कर लेनेके बाद पग-पगपर सम-झौते करने पड़ते हैं। अव्वल तो समाज अपने वहमोंको छोड़ना ही नहीं चाहती और अगर किसी तरह वह छोड़नेको तैयार हो जाये तो उनकी जगह वह दूसरे भ्रम चाहता है। यह बड़ी अनोखी बात है, कि समाज भ्रमजालमें फँसे रहनेमें ही दुःखोंसे अपनी रक्षा मानता है। जब कि वह उलटा दुःखोंमें फँस गया होता है। नेता जाने-अनजाने ऐसे समय भूल कर जाता है, दूसरे भ्रमजालमें उन्हें फाँस देता है। यह सदासे होता आया है। एक ही धर्मको भिन्न-भिन्न नामवाली अनेक शाखाएँ बन चुकी हैं।

कोई शाखा भ्रमोंसे खाली नहीं। जल्दी या देरसे नये समाजमें नया वस्त्र धारण कर वह सब बुराइयाँ आ बैठती हैं जिन बुराइयोंके नाश करनेके लिए नेताने जन्म लिया होता है। जैसे इतिहास फिर दोहराता रहता है, वैसे ही रस्म-रिवाजोंको पुनरावृत्ति होती रहती है। नेताका कर्तव्य होना चाहिए कि अगर रोक सके तो इस पुनरावृत्तिको रोके। तब और तभी वह समाजका कुछ ऐसा उत्थान कर सकेगा, जो भले ही देखनेमें नगण्य हो, स्थितिमें स्थायी होगा।

दवाका यह नियम है कि जब पहले-पहल वह दी जाती है तो बड़ा असर करती है, लेकिन अगर वही दवा नित्य ली जाये तो खुराक बन जाती है। अपना असर खो बैठती है। रोगकी पुनरावृत्तिपर वह बेकार सिद्ध होती है। एक तीसरी अवस्था और आती है। वह यह है कि अब वही दवा रोगभक्षक न रहकर रोगवर्धक बन जाती है। रोगहर न रहकर रोग-उत्पादक बन जाती है। ठीक यही हाल धर्मोपदेशका है। नीतिके उपदेशका है। पुराण और धर्म ग्रन्थोंके पठन-पाठनका है। प्रार्थना और कीर्तनका है। पहले-पहल तो यह जादूका असर रखते हैं। चोरोंको साहु बना देते हैं। डाकुओंको दातार बना देते हैं। वेश्यागामियों-को ब्रह्मचारी बना देते हैं। राजासे राजत्याग करा देते हैं। उससे कपड़े उतरवा देते हैं। और अगर यह धर्मोपदेश पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन नित्यकी चीज बन जायें तो ये अपना असर खो बैठते हैं। एक कानसे सुन दूसरे कानसे निकालनेकी चीज बन जाते हैं। जिस तरह हस्तमैथुन देहको खा जाता है उसी तरह नैतिक मनमैथुन मन, मस्तक और आत्मा-को खा जाता है। नित्यका भजन कीर्तन मनमैथुन बने बिना नहीं रहता। यहाँतक भी सहा जा सकता है, पर इसी निरन्तर उपदेशकी एक तीसरी दशा और आती है। वह बड़ी भयानक होती है। आदमी धर्मोपदेश सुनते हैं। मन्दिरके दर्शन करते हैं। तीर्थयात्रा करते हैं। भजन-कीर्तन करते हैं और इन सबको खाद बनाते हैं रिश्वतके पौधोंका। काले

बाजारकी खेतीका, ठगीका। चोरी और डकैतीके बागीचोंका। चोर, डाकू, वेश्यागामी, जिस भक्ति और एकचित्तके साथ धर्मोपदेश या कथा-कीर्तन सुनते हैं उतने दूसरे नहीं। क्योंकि उनसे उनके ऐबोंका सींचन हो रहा होता है। न उनकी जड़ कट रही होती है, न पीठपर कुठारा-घात हो रहा होता है। यही तो वह समय होता है जब नया नेता जन्म लेता है। आप चाहें तो यह कह सकते हैं नया अवतार अवतरित होता है। उसके वे ही पुराने उपदेश नये रूपमें समाजके रोगोंका इलाज शुरू कर देते हैं। यह चक्र चलता आया है और चल रहा है। सैकड़ों नेता भी ज़ोर लगायें तो यह रुकनेवाला नहीं। हाँ, इसकी चाल ढीली पड़ सकती है और समाजके लिए यह कम भलाईकी बात न होगी।

नेताका फ़र्ज़

इस चक्र या कुचक्रकी गतिको धीमी करनेके लिए नेताका यह काम होना चाहिए कि वह पुराने बहमोंको मिटानेके लिए नये बहम समाजके सिर न मढ़े। पुराने मन्दिरोंको ढाहकर नये मन्दिरोंको खड़ा न करे। पुराने रस्म-रिवाजोंको मिटाकर नये रस्म-रिवाजोंको जन्म न दे। पुराने रहन-सहन ओढ़ावे-पहनावेको खतम करके नया रहन-सहन या उढ़ावा-पहनावा शुरू न करे। अब सवाल यह है कि तब फिर करें क्या? जिस तरह आत्मा बिना देहके नहीं रह सकता, वैसे ही समाज बिना रस्म-रिवाजोंके नहीं रह सकता। रस्म-रिवाज ही समाजको बांधे रखनेमें समर्थ होते हैं। उसके बिना समाज बनेगा ही नहीं। शंका ठीक है, पर जब हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, जैन, पारसी अपने-अपने उढ़ावे-पहनावेमें अपने-अपने रस्म-रिवाजोंसे चिपटे हुए भारत माताकी बेड़ियाँ काटनेके लिए आजादी नामधारी एक सूत्रमें बंध गये थे, तब गान्धी टोपीने आकर हमें क्यों बहममें डाला? इससे तात्कालिक लाभ भले ही हुआ हो। पर आजकल वह किस बातका चिह्न बनी हुई है इसपर लेखनी उठाना

व्यर्थ है। सभी तो उसे जानते हैं। वैसे ही किसी अमूर्तिक निराकार सूत्र-में क्यों न समाजको बाँधकर अलग-अलग रिवाजोंमें बँधा रखा छोड़ा जा सकता है। हम यह कहना चाहते हैं कि नेताको चाहिए कि वह अपनी ही तरह समाजके हर व्यक्तिको पूरी आज़ादी दे, ताकि वह समयपर जैसा उचित समझे, वैसा ढंग अख्तियार कर ले। उस ढंगमें अपनेको बँधने न दे। उसे रिवाजका रूप न लेने दें। यह बात उनको कठिन मालूम होगी, अरुचिकर होगी, असम्भव-सी जँचेगी जो रूढ़िवादी (कंज़र-वेटिव) हैं, उन्हें सम्भव जँचेगी जो उदारमना (लिबरल) है। यह बात सुनने-भरमें अटपटी है, कठिन है, पर व्यवहारमें सरल है। जैसे हरेक आदमी यही चाहता है कि वह किसी रस्म-रिवाजमें न बँधे और अपनी आज़ादी न खोये, पर समाजकी परिस्थियाँ उसे वैसा नहीं करने देतीं।

हाँ, तो समझदार नेताका यह धर्म होना चाहिए कि वह अपने पीछे न कोई धर्म छोड़ जाये न कोई रिवाज। केवल समाजके व्यक्तियोंके हृदय-पर मानचित्र बना जाये और मस्तक-भर परिष्कृत कर जाये। स्वाधीनता-की ऐसी ज्योति जगा दे जो कभी मध्यम न पड़ने पाये। अगर वह काल-द्वारा न खाये जानेवाले नामके पीछे नहीं पड़ा हुआ है तो वह समाजको परिष्कृत छोड़ जा सकेगा। जो गेहूँका दाना ज़मीनमें पड़कर सर्वनाश कर डालता है, वही हरियाली फैलाता है। समाजकी हरियाली ही नेताका लक्ष्य होना चाहिए।

कहिए अब आपके क्या विचार हैं? अबतक तो ऐसा मालूम हो रहा था कि नेता बनना परिश्रम साध्य है। त्याग तपसाध्य है। पर अब तो ऐसा मालूम हो रहा है कि कठिनतासाध्य है। दुःखसाध्य है, पर साध्य ज़रूर है। घबराइए नहीं जिस तरह धुन्धमें आगे बढ़नेसे आगे-की राह दिखाई देती रहती है, वैसे ही समाजकी विकट परिस्थितियोंमें आगे बढ़ते चलिए और राह दिखती रहेगी। बस हिम्मत न छोड़िए।

उसे आप छोड़ेंगे भी नहीं। क्योंकि आपने जो विश्वास प्राप्त किया है और जिसके साथ विनय और शील काम कर रहे हैं, ज्ञानोपयोग, सन्तोल, तप, त्याग जिसका साथ दे रहे हैं, वे आपको डिगने न देंगे। वे लोक-संग्रहके काममें आपका हाथ थामे रहेंगे। आपको आगे बढ़नेके लिए उत्साहित करते रहेंगे। और हमें विश्वास है कि किसी तरहकी थकान भी महसूस न होने देंगे।

■

समाज-सेवा

आप गृहस्थ जीवनमें प्रवेश कर चुके। गृहस्थ जीवनसे हमारा मतलब है नेतृत्व जीवनकी जवानी। गृहस्थी बननेका अर्थ यही है आटे-दालकी चिन्ता। नोन तेलका प्रबन्ध और ईंधन संग्रह। यह इसलिए कि अब संगिनी साथ होती है। और फिर जहाँ दो हुए वहाँ तीन-चार पाँच हो ही जाते हैं। लोक-संग्रहसे तीन-चार-पाँचवाले आप हो चुके हैं। अब आप यह चाहें कि चैनकी वंशी बजाते रहें तो नहीं हो सकता। अब तो रातमें कई-कई बार उठना ही पड़ेगा। अगर आप नारी है और माँ रहनेका सौभाग्य प्राप्त कर चुके हैं तो आपको यह समझनेमें कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि रातको बच्चोंको पेशाब कराने उठनेमें या हारी बीमारीमें उसका माथा दबानेमें, पेट सहलानेमें, जाँघें थपथपानेमें या पाँव रोलनेमें जहाँ हलकी-सी बेचैनी अनुभव होती है, वहीं गहरा आनन्द भी आ रहा होता है। अगर आप मर्द है और आप बेटी-बेटावाले हैं तो आपको यह समझनेमें कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि जवानीमें जिस नींदका मामूली धक्का आपेसे बाहर कर देता था, वही धक्का अब फुर्ती उत्पन्न कर देता है, एकदम चारपाईसे कुदाकर दो पाँवपर खड़ा कर देता है। और चट वहाँ पहुँचा देता है, जहाँसे किसी बालक या बालिकाके रोनेकी आवाज आ रही होती है। आखिर खून पानीसे गाढ़ा होता है। यह है खूनका करिश्मा। ठीक इसी तरह लाभ समाज नेताकी मानस सृष्टि होता है। अगर पानीसे खून गाढ़ा होता है तो खूनसे धर्म और भी गाढ़ा होता है। धर्मोंमें नेतृत्व धर्म सबसे गाढ़ा होता है, इसीसे अन्दाजा लगाया जा सकता है कि नेता कितने ऊँचे दर्जेका सेवक होता है।

समाज क्या करता है ?

जिस तरहका बापसे बालक बहुत सारे ऊटपटाँग प्रश्न पूछते हैं और अगर दो-चार हुए तब तो प्रश्नोंकी झड़ी ही लगा देते हैं। और बापको उनके जवाब देने पड़ते हैं और तरह-तरहके फ़ैसले भी करने पड़ते हैं। ठीक इसी तरह नेताको समाजसे भुगतना पड़ेगा। जैसे बालक नये आदमीसे पहले दूर-दूर रहता है, धीरे-धीरे ही पास आता है और जहाँ उसने नये आदमीकी थपथपीका आनन्द अपनी पीठपर लिया और जहाँ उसने नवागन्तुकको सिरपर हाथ फेरते और प्यारसे गाल रोकते देखा कि चट गोदीमें आसन जमा बैठता है। फिर वह चुपचाप थोड़े ही बैठता है। कभी आगन्तुकके बटन देखेगा, उन्हें खोलेगा, जेब या जेबोंमें हाथ डालेगा, जो चीज़ मिलेगी उसीकी परीक्षा करेगा। उसके सम्बन्धमें तरह-तरहके प्रश्न पूछेगा, और कहीं घड़ी हाथ पड़ गयी, तब तो कहना ही क्या ? ठीक इसी तरह जो समाज पहले नेतासे बचता-बचता रहता है, फिर वह मुँह लगा बालक बन जाता है। सिर-चढ़ा बन जाता है। तरह-तरहकी शंकाएँ उपस्थित करता है और उनका समाधान चाहता है। नेता कैसा भी क्यों न रहे पर समाज उसको अवतार और भगवान् बनाये बिना नहीं रहता। 'ठोक पीटकर वैद्यराज' बनानेकी कथा आपने सुनी ही होगी। वैसे ही नेता भी ठोक-पीटकर भगवान् बना दिया जाता है। अब यह नेताकी अपनी बुद्धिमानीपर निर्भर है कि वह समाजसे कैसे भुगते। इसलिए हम पहले ही नेताको इस कामके लिए तैयार कर चुके हैं। उसे विनय और शीलसम्पन्न बना चुके हैं। उसे ज्ञानी और सन्तुलित बना चुके हैं। त्याग और तपकी आगमें उसे पका चुके हैं। और गृहस्थमें प्रवेश करने योग्य हट्टा-कट्टा जवान बना चुके हैं। बालकवत् समाजसे भुगतनेमें न विशेष कठिनाई अनुभव करेगा, न घबरायेगा, न ऊबेगा। वह तो उलटा समाजके हर काम और हर तरहकी सेवामें जुटा हुआ आनन्दानुभव कर रहा होगा। निरन्तर रस ले रहा होगा। और ऐसे ही ख़ुश हो रहा होगा, जैसे किसान

अपनी खेतीको लहलहाते देखकर .खुश होता है। या कोई विज्ञानी अपने किसी परीक्षण-द्वारा नवाविष्कृत तत्त्वको देखकर .खुश हो रहा होता है या गणितज्ञ अपने किसी गूढ़ सवालको निकालकर .खुश होता है।

धन्यता कब महसूस होती है?

नेता अपनेको नेता समझते हुए भी समाजका अंग ही मानता है। असलमें नेता कहकर तो समाज ही उसको पुकारता है। वह तो अपनेको सेवक ही समझता है। सेवक ही नहीं परम सेवक, जैसे घरके बाल-बच्चे माँको माँ और बापको बाप समझते हैं, उनको माताजी पिताजी-जैसे आदर-भरे शब्दोंसे सम्बोधित करते हैं, उस तरहके मानामानको अपनेमें तनिक भी जगह नहीं देते हैं? वे तो ऐसे ही उनकी सेवा-सुश्रूषामें जुटे रहते हैं, जैसे कोई क्रीतदास। मोल लिया हुआ .गुलाम कब कैसे किसी कामसे इन्कार कर सकता है? यह ठीक है कि वह शायद जरूरत या दुःख मानकर काम करता होगा पर माँ-बाप तो बच्चोंकी नीचसे नीच सेवा करनेमें भी सुखका अनुभव करते हैं, धन्य भाग्य समझते हैं। कालिदासके एक श्लोकका इसी सिलसिलेमें सार दिया जाता है—

"प्रेम प्रहारि जुगल दन्त दिखलाकर जग मुसकाता है,
भावपूर्ण पर अर्थहीन शब्दों में जब तुतलाता है।
ठुमक-ठुमक गोदी का बालक जब गोदी आता है,
धूल पोछने का धीरज फिर किस मन को रह जाता है॥"

कालिदासका अन्तिम चरण उन्हीके शब्दोंमें यों है, 'धन्यास्तदंगरजसा कलुषी भवन्ति' यानी धन्य हैं वे लोग जिनके अंग ऐसी धूलसे मैले होते हैं। ठीक इसी तरह नेता समाजकी सेवा करके अपनेको धन्य समझता है।

वनामे आके ओ नामें नदारद

वह जाति-पाँति, वर्णाश्रम, धर्म सभीसे ऊँचा उठ चुका होता है। आप चाहें तो उसे संन्यासी कह सकते हैं, पर संन्यासी तो संन्यासी दीख

पड़ता है। उससे लोग बचते और डरते हैं। नेता तो संन्यासी दीख नहीं पड़ता। उससे तो लोग लिपटते हैं, क्योंकि वह मनसे संन्यासी होता है। उसके संन्यासको न मूँड़ मुँड़ानेकी जरूरत है न कपड़े रँगनेकी जरूरत है। न उसके कानोंको महाराज शब्द सुननेका अभ्यास होता है। कोई-कोई नेता तो उम्र-भर भाई नामसे पुकारे जाते रहे। कोई आमरण विद्यार्थी ही कहलाते रहे। नेताओंको उस ओरकी चिन्ता ही नहीं होती। मांको ही ले लीजिए। वह कहीं 'आई' है। कहीं 'जया' है। कहीं 'भाभी' है। कहीं—'ममी' है। कहीं 'मय्यो' है। जिस तरह चाहो उसे पुकार लो। उसे नामसे क्या लेना-देना। ईश्वर भी तो हजारों नामोंसे पुकारा जाता है। एक फ़ारसी कविके मुँहसे क्या ही अच्छे शब्द निकल गये—

"बनामे आंके ओ नामे नदारद"

यानी यह कि उस नामके लिए जिसका कोई नाम ही नहीं है। बस नेता किसी भी नामसे क्यों न पुकारा जाये उसे तो कामसे काम, नाम-धामसे क्या लेना।

मैंने अपनी आँखों ऐसे नेताको देखा है, जो उन लोगोंके बच्चोंकी सेवामें लगा हुआ था, जो बे-घर-बारके थे। जो एक गन्दी नालीके किनारे अपना डेरा डाले हुए थे। और उसी नालीके पानीसे अपनी बहुत-सी जरूरतें पूरी करते थे। कोई-कोई तो भूले-भटके उस नालीसे पानी तक पी लेता था। ऐसी ही टोलीका एक बच्चा समाजके नेताकी गोदमें था। उसीके साफ़ कपड़ोंपर टट्टी-पेशाब कर रहा था और पीड़ासे हाथ छटपटाते-छटपटाते ऐसी हरकत कर जाता था, जिससे टट्टीकी फुटक और पेशाबकी कोई-कोई बूंद उस नेताके होठों तक जा पहुँचती थी। पर मजाल है कि उसके चेहरेपर कोई शिकन पड़ जाये, या उसकी मुसकराहटमें बाधा डाल सके। इस नीचे कर्मकी वजहसे वह अपनी बिरादरीमें कुछ दिनों तक, बस कुछ ही दिनों तक बहिष्कृत भी रहा। पर जब उनके

काम आने लगा तो उनकी भक्ति भी उसने प्राप्त कर ली।

सेव्यकी ख़ुराक

न जाने नेता किस धातुका बन जाता है कि उसे न कोढ़ लगता है न प्लेग। आत्माके विषयमें तो यह कहा ही जाता है कि उसे न आग जलाती है न शस्त्र काटता है, न हवा सुखाती है, इत्यादि। नेताकी तो देहके बारे-में भी यह कहा जा सकता है कि उसे न उड़नी बीमारी लगती है न छूत-की। यह लिखकर और कहकर हम आपको यह सलाह नहीं दे रहे कि आप सफ़ाईके नियमोंका पालन ही न करें या उन नियमोंका उल्लंघन कर जो हकीमों, वैद्यों और डॉक्टरोंने बना रखे हैं। हम तो अपने अनुभव बता रहे हैं। सलाह तो हम आपको यही देंगे कि आप वह और वैसा कीजिए जैसा आपका मन चले, मनकी ऊँचाई अपने-आपको ठीक राह बता देगी। हमारी सलाहकी आपको जरूरत ही न रह जायेगी। यह कहावत सोलहों आने सत्य है कि न लड़ाईके कुछ नियम होते हैं और न प्यारके।

यों तो नेता सेव्य होता है, पर वह तो अपनेको सेवक ही मानता रहता है। एक फ़ारसी कविका कहना ठीक है—

"हर कि ख़िदमत वर्ज को मख़दूम शुद,
हर कि ख़ुदरा गोद ओ मादूम शुद।"

यानी जो सेवा करता है, वह सेव्य बनकर रहता है और जिसकी निगाह अपनेपर है वह मिट जाता है। पर हम तो यों कहेंगे कि सेव्यकी सेवा ख़ुराक होती है। सेवा ही उसके प्राण होते हैं। सेवामय बन जानेका नाम ही सेव्य है। ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय जैसे जब एक हो जाते हैं तब ही ज्ञानकी पूर्णता मानी गयी है। वैसे ही सेव्य, सेवा, सेवक सब मिलकर एक हो जाते हैं तब ही सेवा धर्म पूर्णताको पहुँचता है और तब ही नेतृत्व चमकता है। बिजलीका बल्ब चमकता जरूर है, पर उसे चमकाते हैं

बैट्रीके सैल। इसी तरह नेता चमक तो जरूर उठता है, पर उसे चमका रहे होते हैं समाजके व्यक्ति। यह ज्ञान नेताको होता ही है। क्योंकि वह विनयसम्पन्न होता है। विनीत होना ज्ञानीकी पहचान है। यही कारण है कि नेताकी चमक नेताके पास घमण्डके अँधेरेको नहीं फटकने देती। और वह आये भी कैसे ? जब सेवा उसकी खुराक है तब तो वह यही समझता होगा कि जिनकी मैं सेवा कर रहा हूँ, वे मुझपर अहसान कर रहे हैं। क्योंकि मुझे खुराक दे रहे हैं। मैं उनपर कहाँ एहसान कर रहा हूँ ? मुझे उनका उपकृत होना चाहिए न कि उनको मेरा। इन भावनाओंमें विचरनेवाला व्यक्ति थकानसे दूर न रहेगा, तो और कौन दूर रहेगा। इन भावनाओंमें विचरनेवाला व्यक्ति अगर सेवाके सातत्यक्रमको सदा प्रवाहित न रख सकेगा तो और कौन रख सकेगा। इन भावोंमें विचरनेवाला व्यक्ति अगर अपने चेहरेपर सदा प्रसन्नता खेलती न रख सकेगा तो और कौन रख सकेगा ?

सेवककी सफलता

अब कहिए समाज-सेवा कहाँ कठिन रह जाती है। थके मनकी देह भी जल्दी थकती है। उत्साहित मनकी देह भी उत्साहित रहती है। यह जगत् मानसिक ज्यादा और दैहिक कम है। तभी तो किसी ऋषिके मुँहसे निकल गया कि मन ही बन्ध-मोक्षका कारण है। नेता होता है दृढ़प्रतिज्ञ, दृढ़विश्वासी। उसका मन कैसे चल हो सकता है ? उसका विश्वास तो हर क़दमपर दृढ़से दृढ़तर होता रहता है। यही कारण है कि वह आगे बढ़ना जानता है, पीछे हटना नहीं जानता।

वह सेवक ही क्या जो सेवितोंमें सेवाकी रूह न फूँक दे। सेवक वही है जो सेवा करते-करते सेवितमें सेवाकी भावना जमा दे। और यही होता है नेताका मुख्य कर्म और मुख्य धर्म। नेता बिना प्रयासके अपने पीछे सच्चे सेवकोंका एक दल छोड़ जाता है। वह मरनेसे पहले अपनी

आँखों सेवकोंकी खेतीको लहलहाते देख चुका होता है। ऐसा नेता मरता कहाँ है? वह तो बड़ी शक्तिके साथ अपने प्राणोंको प्रकृतिके हाथ सौंप देता है और प्राणरहित हो जाता है।

अकेला कौन ?

जबतक कोई यह समझता रहे कि वह अकेला है, कोई उसका साथ नहीं दे रहा, वह अकेला ही सारे समाजका काम सँभाल रहा है। उसके मरनेके बाद सारा समाज रोयेगा, कोई उसके कामको न सँभाल सकेगा, तबतक यह समझना चाहिए कि न वह नेता है और न वह यह समझ पाया है कि नेता किसे कहते हैं? नेताको ऐसी चिन्ताओंसे सरोकार ही नहीं होता। हमारा तो ऐसा ख़याल है कि नेता बननेके कारखानेमें नेता बननेके इरादेसे कोई कूद सकता है, पर नेता बननेके बाद वह यह बिलकुल भूल जाता है कि वह नेता बन गया है। बालकपन-में जवानीकी जितनी चाह होती है और दाढ़ी-मूँछोंकी जितनी याद आती है, जवान होनेपर न वह चाह रह जाती है न याद। दाढ़ी-मूँछ तो उलटी बवाल बन बैठती है। यही हाल नेताका होता है, उसे तो अपनेमें नेता कहीं दिखाई ही नहीं देता। वह तो सरसे पैर तक अपनेमें सेवकको ही बैठा हुआ पाता है। नेता अकेला अपनेको समझ सकता है। उसे अकेला-पन अखर भी सकता है, पर सेवक तो भेड़-बकरियोंमें भी अपनेको अकेला नहीं समझ सकता। उसकी सेवा उसके साथ है और सेवाका सामान साथ है। ये सब बातें सुननेमें जितनी भली मालूम होती हैं, करनेमें इससे कहीं ज्यादा भली मालूम होंगी। जैसे यह कहावत ठीक है 'वे क्या जाने पीर पराई, जिनके पाँव न फटी बिवाई', इसी तरह यह कहावत भी ठीक है, 'जो पलंग तोड़ता रहता है वह सेवाके रसका स्वाद क्या जाने' सेवा मेवा लाती है यह नहीं, सेवा अपने आपमें खुद मेवा है। अगर मेवा भी हाथ लग जाय तो उसे रूंगेमें समझना चाहिए। उसे घातेमें समझना चाहिए···

प्रेम और लगनकी अलार्म

आप अगर पहले गिनायी हुई सब पैड़ियाँ पढ़ चुके हैं, तो यह कहनेकी बिलकुल ज़रूरत नहीं कि समाज-सेवा क्यों ज़रूरी है, ज़रूरी है ही नहीं, वह तो मनका स्वाभाविक उफान है। जिस तरह आग अपनी ज्वाला ऊपरको फेंकती है, उसमें उसे कुछ प्रयास नहीं करना पड़ता; वैसे ही नेतामें-से सेवाकी ज्वाला निकलती है। प्रेम उसका ईंधन है। उसे कुछ प्रयास थोड़ा ही करना पड़ता है। चाहे मर्द हो या औरत। रातकी ड्यूटीपर जागनेके लिए उन्हें घड़ीमें अलार्म लगाना पड़ता है। या और कोई प्रबन्ध करना पड़ता है। पर बच्चेके रोनेपर जागनेके लिए किसी अलार्मकी जरूरत नहीं होती। उसकी तो मामूली गुनगुनाहट ही माँको जगा देती है। प्रेम और लगन बड़े जबरदस्त अलार्म हैं। तीन-चार बरस-के बच्चे बिना किसीके जगाये रातके तीन बजे अपने आप उठ सकते हैं। अलार्म बनकर माँ-बापको जगा सकते हैं, अगर उन्हें सोनेसे पहले यह कह दिया गया हो कि तीन बजे उठकर अमुक मेला देखनेके लिए जाना होगा। क्या यह सच्चा अनुभव और घर-घर होनेवाला अनुभव इस बात-का प्रमाण नहीं है कि प्रेम और लगन बड़ी चीज होती है। वह क्या-क्या कर दिखा सकती है। यह तो वही जानते हैं जिनमें वह होती है और नेता इससे ख़ाली नहीं होता।

शासकको नेता माननेका दुष्परिणाम

आज समाजमें जितना सेवा-भाव हम पा रहे हैं, उसीको तौल लीजिए और परख लीजिए कि समाजके बालपनसे आज तक हम कितने सच्चे नेता पैदा कर पाये। आज समाजमें जितनी बेपरवाही है, आपाधापी है, लूटमार है, रिश्वतखोरी है, कालाबाज़ारी है, आतिथ्यहीनता है—उन सबको तौलिए और परख लीजिए। समाजके बालपनेसे आजतक हमने कितने खोटे और स्वार्थी नेता पैदा किये। सेवकको नेता माननेका

रिवाज ही नहीं रहा। शासकको नेता माननेके रिवाजने नेताओंका जन्म लेना बन्द कर दिया। इतिहासके पन्ने उन नेताओंकी तारीफ़से भरे पड़े हैं, जिनका डण्डा सिरपर सवार रहता है और उन्हें सच्चा नेता माना जा रहा है। मांसाहारी बकरेको पालता है। उसे बढ़िया-बढ़िया माल खिलाता है तो इससे क्या वह बकरेके प्रति उपकारी समझा जायेगा? हम सब गाय, भैंस, बकरी पालते हैं,, उनको खूब खिलाते-पिलाते हैं। क्या यह हम उपकार कर रहे होते हैं? ऐसे ग्वालोंको कौन नहीं जानता जो गाय, भैंसके बच्चेको भूखों मार डालते हैं। यह किसे नहीं मालूम कि कलकत्ते गयी हुई गाय-भैंस दूध बन्द हो जानेके बाद बूचड़खानेमें जगह पाती हैं। ठीक इसी तरह विदेशी राज्य खासतौरसे और स्वदेशी राज्य आमतौरसे देशकी जो भलाई करते हैं, उसमें सौ प्रतिशत न भी सही पंचानवे प्रतिशत स्वार्थ रहता है। ऐसे स्वार्थमें डूबे हुए राजे या दूसरे शासन-नैयाके कर्णधार कैसे सच्चे नेता समझे जा सकते हैं। भारतपर बरसों अँगरेजी शासन रहा। उसके गीत गानेवालोंकी कमी नहीं, आज उसके शासनका जूआ हमारे कन्धोंपर नहीं है। पर ऐसे आदमियोंकी कमी नहीं है, जो आज भी अँगरेज़ी राज्यके शासनके गीत गाते नहीं अघाते। थोड़े शब्दोंमें जनता यह भूल ही गयी है कि नेता कहते किसे हैं? इसलिए हर कोई नेता बन बैठता है। लोगोंको नेतृत्वगुण छू भी नहीं गया होता। ऐसे दूषित वातावरणमें अगर कोई सन्नेता बननेका प्रयास करे तो उसे कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा। क्या इसका अनुमान भी किया जा सकता है।

रिक्त स्थानकी पूर्ति करें

हाँ, ऐसे वायुमण्डलमें ही हमें सच्चा नेता बनना है और औरोंको बनते देखना है। समाज सदा सच्चाईकी भूखी रहती है। पर सच्चाईकी परख न होनेसे वह झूठको ही सच समझने लगती है। और उसको ही

क़दर करने लगती है। इसका मतलब यह हरगिज़ नहीं कि वह परख करना सीख ही न सकेगी। रोगी नन्हें ज्वरकी ओरसे बेपरवाह रहता है। कुछ लोगोंकी समझ है कि नन्हा ज्वर ला-इलाज होता है पर नन्हें ज्वरका तो इलाज होता है। रोगी अच्छे होते हुए देखे गये हैं, वैसे ही सचकी जगह जो झूठकी पूजा हो रही है और सुनेताकी जगह कुनेता पूजे जा रहे हैं उस मिथ्याचरणको सत्याचरणमें बदला जा सकता है। अगर कोई सच्चा नेता मैदानमें कूद पड़े सचाईसे तो अकेला आत्मा सूरजकी तरह बलवान् होकर सारे भूमण्डलमें छाये हुए घोर अन्धकारको क्षण-भरमें नाश कर सकता है। ऐसा सदासे होता आया है और अब भी हो सकता है।

यह सब समझकर हम पाठकोंसे अगर यह आशा करें कि वे इस रिक्त स्थानकी पूर्ति करेंगे तो हम कुछ वैसी आशा नहीं करते। जिन गुणोंका हमने जिक्र किया है वे संसारसे निर्मूल नहीं हो गये। केवल सत्य-श्रद्धान अपना लेनेसे वे सब अपने-आप इस तरह पीछे दौड़ते हुए चले जाते हैं जैसे परछाईं। जरूरत है केवल लोभ-लालचकी ओरसे मुँह मोड़ लेनेकी और सत्य-ज्ञानके सूरजकी ओर मुँह करके दौड़ लगानेकी। 'नीम हकीम खतरे जान' वैसे ही अर्द्धज्ञान भी खतरेजान ही होता है। बस जहाँ आप अर्द्धज्ञान अवस्थासे आगे बढ़े, तो आपकी वह सब दिक़्क़तें हल हो जायेंगी और रास्तेसे सब बाधाएँ हट जायेंगी। जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। जरूरत है आत्म-विश्वासके साथ मैदानमें कूद पड़नेकी।

■

निष्णात-भक्ति

जो लोक-संग्रहके लिए नेतृत्वके मैदानमें कूदता है, उसे गुणियोंसे प्रेम होता ही है। इसलिए जो किसी कलामें निष्णात होते हैं, वे उसकी नज़रसे बच ही नहीं सकते। उनसे उन्हें बेहद भक्ति होती है। उनसे वह प्रेरणा ग्रहण करता है। निष्णातमें नेता बननेकी योग्यता रहती है, पर वह उस तरफ़ निगाह भी नहीं डालता। निष्णात कहते ही उसे हैं जिसमें आत्मतुष्टि उस सीमाको लाँघ गयी होती है जिस सीमाके अन्दर दुनियादार निवास करते हैं। होता तो वह संसारी ही है, पर उसे आसानीसे असंसारी कहा जा सकता है। उसे संसारसे द्वेष नहीं होता, और राग भी नहीं होता। आप चाहें तो उसे कृतकृत्य भी कह सकते हैं।

निष्णातकी गतिविधि

अर्हन्त, अरहन्त, अरिहन्त इत्यादि नाम निष्णातके ही होते हैं। ये शब्द जितने डरावने बन गये हैं उतने हैं नहीं। जितना छुई-मुईपना इनके साथ जोड़ दिया गया है, वैसा छुई-मुईपना इन नामोंमें नहीं है। अरिहन्त शब्दका अर्थ है, वह जिसने अपने दुश्मनोंका अन्त कर दिया। धर्म मार्गमें कर्म ही वैरी होते हैं। उनका नाश कर डालनेवाला अरिहन्त पदवीको प्राप्त कर लेता है। ठीक इसी तरह किसी कलाका निष्णात उस कलाके वैरियोंका अन्त कर चुका होता है। कलाके वैरी होते हैं—शंका, कांक्षा, मान, घृणा इत्यादि। इन सबको जीते बिना कोई निष्णात नहीं कहला सकता। कामनाओंके अन्त होनेपर किसी व्यक्तिकी मानसिक अवस्था क्या होगी, इसका अन्दाजा पाठक स्वयं लगा सकते हैं। कामनारहित निष्णात

संसारमें रहते हुए भी संसारसे अलग-थलग रहते हैं। वे किसीसे मिलना नहीं चाहते। लेकिन अगर कोई उनसे मिलने आ जाये तो वे ऊँचे दरजेके मिलनसार पाये जायेंगे। उनकी विनम्रता देखकर और अतिथि-सेवा देखकर तो उनके निष्णात होनेमें सन्देह होने लगता है। बोलते बहुत कम हैं। उनके उत्तर संक्षिप्त और सारगर्भित होते हैं। उनसे हर कोई मिलने नहीं आता। यह कारण नहीं कि हर कोई उनसे मिल नहीं सकता। या वे हर किसीसे मिलना पसन्द नहीं करते, किन्तु इस कारण कि हर कोई उनसे मिलकर उतना लाभ नहीं प्राप्त कर सकता, जितना वह साधारण ज्ञानीसे प्राप्त कर सकता है।

यों निष्णात संसारके एक कोनेमें जा पड़ते हैं और सागर-तलके मोती बन जाते हैं। पर सागर-तलके मोतीको भी तो गोताखोर कब छोड़ते हैं, निकाल ही लाते हैं। ऐसा ही लोक-संग्रहमें रत नेता इन्हें ढूँढ़ ही निकाल लेता है। जैसे मोती या तो बक्समें बन्द रहेंगे या पिष्टिका रूप लेकर किसीके काम आ जायेंगे। पर बने रहेंगे—कोना-पसन्द, एकान्त-प्रिय। हाँ, अगर कोई उनका पेट छेदकर उन्हें किसीके गलेका हार बना दे तो वे चुपचाप लटके भी रह सकते हैं। वैसे ही होते हैं ये निष्णात। ये या तो चुपचाप पड़े रहते हैं या दूसरोंकी भलाईमें प्राण दे देते हैं। समाजके सामने नहीं आ पाते। नेता चाहे तो उनमें प्रेमके बरमेसे सूराख करके समाजदेवीके गलेका हार बना सकता है, पर वह ऐसा करनेकी नहीं सोच सकता। वह उनका इतना आदर करता है, उनसे इतनी भक्ति रखता है कि वह इस तरहके विचार भी अपने मनमें नहीं ला सकता। उसे तो केवल अपने प्रश्नोंके उत्तरकी जरूरत होती है और वे उसे मिल ही जाते हैं।

निष्णातका ज्ञान बेहद निर्मल होता है। बहुत-से प्रश्नोंका हल तो उनके दर्शन करनेसे ही हो जाता है। कभी-कभी उनकी याद तक इस काममें सहायक हो बैठती है। पाठक ऐसा न समझें कि हम कुछ बढ़ाकर

लिख रहे हैं। हमें तो यह विश्वास है कि हमारे पाठकोंमें-से बहुतोंको ऐसा अनुभव हो चुका होगा कि वे किसी गुरुसे कुछ पूछने गये हैं और उनसे मिलते ही उस सवालका जवाब मनमें मिल गया है। यह कोई अनोखी बात नहीं है। मनोविज्ञानका मामूली-सा प्रश्न है। हमारी स्मृति किस तरह काम करती है, जो यह जानता है, उसे इस बातमें शंका नहीं हो सकती। असलमें होता यह है कि गुरुके दर्शनसे हमें गुरुजीकी सीख याद आ जाती है और उसकी मददसे हम उस विचारक्रमके सूत्रको पकड़ लेते हैं जिस क्रममें हमारे प्रश्नका उत्तर मौजूद रहता है। इसलिए हल अपने आप सूझ जाता है। यहाँ यह लिखना बेजा न होगा कि किसी भूली बातको यादमें लानेके लिए पाँचों रंग, दोनों गन्ध, पाँचों स्वाद, आठों स्पर्श और दोनों तरहके स्वर बड़े सहायक होते हैं। कभी-कभी तो वर्णमालाके अक्षर किसी बातके याद दिलानेमें जादूका काम कर जाते हैं। फिर अगर निष्णातके दर्शनोंके साथ यह बात जोड़ी जा रही है, तो बात बढ़ाकर कहाँ लिखी जा रही है?

नेता और निष्णात

ऐसे निष्णातोंसे अगर किसी नेताको भक्ति न हो तो वह नेता ही नहीं है, या अगर है तो कुनेता या खोटा नेता है। जिसे निष्णातसे भक्ति नहीं उसे समाजसे प्रेम नहीं हो सकता। जिसे समाजसे प्रेम नहीं उसे सन्नेता कैसे कहा जा सकता है। नेता एक तरह स्वयं निष्णात होता है। पर लोक-संग्रहमें लगे रहनेके कारण उसका निष्णातपना कभी-कभी धुँधला पड़ जाता है। उस धुन्धको मिटानेके लिए भी उन निष्णातोंके दर्शनकी आवश्यकता होती है जो एकान्तमें बैठे रहनेके कारण धुन्धसे बचे होते हैं।

निष्णात एक समयमें अनेक हो सकते हैं। एक जगहमें अनेक हो सकते हैं। पर नेताके लिए यह जरूरी नहीं, आमतौरसे एक समयका एक ही नेता होता है। एक क्षेत्रविशेषका एक ही नेता होता है। नेता कई

तरहके हो सकते हैं। पर निष्णात कई तरहके नहीं हो सकते। निष्णात अगर कई तरहके होंगे, तो कलाकी भिन्नतासे। इसी कारण यह अनेकता अनेकता नहीं कहला सकती। निष्णातका अर्थ ही यही है कि उसने जड़की बात समझ ली है। असलियत तक पहुँच गया है। वह दो निष्णातों-के लिए दो नहीं हो सकती। वह तो एक ही रहेगी। इसलिए निष्णात एक ही तरहके होते हैं। इसके विपरीत नेताओंको भिन्न-भिन्न केन्द्रोंमें भिन्न-भिन्न समयोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे काम करना पड़ता है। इसलिए वह कई प्रकारके हो जाते हैं। इसी कारण नेता और निष्णातमें अन्तर पड़ जाता है।

हम ऊपर लिख आये हैं कि नेता विनयसम्पन्न होता है। निष्णात विनयसम्पन्न कोटि पार कर चुका होता है। यानी वह विनय-अविनयकी कोटिसे दूर हो चुका होता है। विनय-अविनयसे दूर होना विनय ही नाम पा सकता है। जल स्वादरहित होता है। इसलिए उसे मीठा कहना पड़ता है। जल होता तो फीका ही है, पर खारे जलके सामने वह मीठा कहलाता है। इसी तरह निष्णात होता तो विनयरहित है, पर किसीके सामने वह विनयी ही कहलायेगा। बस नेताकी विनयसम्पन्नता और निष्णातकी विनयसम्पन्नतामें यही अन्तर होता है। यही कारण है कि निष्णातसे नेताको भक्ति हो उठाती है। यही वह भक्ति है, जो निष्णात ढूँढ़ निकालनेमें समर्थ होती है।

दृष्टि-भेद

लोक-संग्रहमें ऐसे निष्णात बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। जनसाधारण को एक बार निष्णातका पता लगना चाहिए, फिर क्या वह उन्हें छिपा रहने दे सकता है। यह ठीक है निष्णात भीड़-भड़ाकेसे बचते हैं। पर उनके स्वभावसे जनसाधारण भली-भाँति परिचित होता है। इसलिए उनको भीड़से अलग रखकर भी जनसाधारण उनसे प्रेरणा पाता रहता है। इस तरह नेताका क्षेत्र-कार्य विस्तीर्ण होता रहता है और विकास कार्य दिनों-दिन बिना प्रयासके ही विकसित होता रहता है। निष्णातकी क़द्र जितनी नेता

जानता है, दूसरे नहीं। अवतार एक प्रकारके नेता ही होते हैं, और अवतारोंको कलाकारोंने चतुर्भुज कहा है। कहांके चतुर्भुज ! उन्हें आप चाहें तो अष्टभुज और षोडशभुज भी कह सकते हैं, पर याद रहे ये भुजाएँ किसी देशके निष्णात ही होते हैं, जो कुछ न करते हुए भी नेताका काम हलका कर देते हैं, ऐसे निष्णात अगर नेतासे भक्ति पायें तो इसमें बुराई ही क्या है ? निष्णातकी महानता नेताको स्वीकार होती है, जनसाधारणको नहीं। राजाकी मां राजमाता कहलाती है, राजा ही उसकी महानताको समझता है, जनसाधारण नहीं। उसके लिए तो राजा ही महान् है। मोतीकी मांको भी कौन जानता है ? पर मोती तो आदमीके गलेका हार बना रहता है, उसकी मां सीप जौहरीसे या और धनिकोंसे अपने बेटेजितना आदर नहीं पा सकती, यह दूसरी बात है कि वन्ध्या सीप कभीकभी बच्चोंके गलेका हार बन बैठती है। ठीक इसी तरह नेताओंको बल देनेवाले निष्णात जनसाधारणसे उतना मान नहीं पाते जितना नेता पाता है। असलमें निष्णातोंको इस तरहके मानकी आवश्यकता ही नहीं होती, जब कि नेताको उसकी जरूरत होती है। यह दूसरी बात है कि सन्नेता उस ओर ध्यान भी नहीं देता, पर जनताका दिया हुआ मान तो प्रसिद्धिके क्षेत्र बढ़ानेमें सहायक होता है, जिसकी नेताको हर समय जरूरत पड़ती है। यही कारण है कि निष्णात बड़े होते हुए भी छोटे पड़ जाते हैं, फिर भी समझदारोंकी दृष्टिमें आमतौरसे, नेताकी दृष्टिमें खास तौरसे, वे महानतम बने रहते हैं।

दो पहलू

निष्णात देशकी सम्पत्ति होते हैं। पर ऐसी ही सम्पत्ति होते हैं जैसे खानें या सागरमें पड़े मोती। जिस देशमें खानें नहीं होतीं, उसको मालदार नहीं बनाया जा सकता। वैसे ही निष्णातशून्य देश नेताके द्वारा जल्दी ऊँचा नहीं उठाया जा सकता। वह नेता ही क्या जो निष्णातकी

आवश्यकताओंको ही न समझे। वह नेता ही क्या जिन्हें उनसे भक्ति न हो। वह नेता ही क्या जो उनसे प्रेरणा ग्रहण न करे। वह नेता ही क्या जो उनकी मानवृद्धि न करे। नेता उनके प्रति जो कुछ भी करता है वह दुगुना-तिगुना होकर उसीके पास लौट जाता है। इसलिए वह टोटेमें कहाँ रहता है? पर वह टोटा-नफ़ाकी बात नहीं करता। असलमें इन निष्णातोंमें एक आकर्षण होता है जो नेताओंको आकृष्ट कर लेता है। जब कि जन-साधारण निष्णातोंसे आकर्षित नहीं होते। निष्णात देखनेमें बड़े भोले-भाले, सीधे-साधे मिलेंगे, कारण एक ही है। ये कामनाएँ हैं जो आदमीको चमकाती हैं। विज्ञानकी दुनियामें चमकना और जलना एकार्थवाची हैं। ताप और प्रकाश (हीट और लाइट) एक ही चीज़के दो पहलू हैं। इसी तरह चमक या प्रसिद्धि और तपन या श्रमशीलता एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। नेता चमकता ज़रूर है, पर किस बलपर चमकता है, वह बल है निष्णात। वे बैट्रीकी तरह उसे बल देते रहते हैं। पर शायद न इस बातका पता उन्हें स्वयं होता है न नेताको और न जनताको।

ज्ञान-दृष्टि

निष्णात यानी ज्ञानी। आदमी जहाँतक ज्ञानी हो सकता है, उस सीमाका नाम निष्णात है। विज्ञान शब्दका जिन अर्थोंमें आजकल प्रयोग हो रहा है—वह ज्ञानसे अलग चीज़ है। यह बिलकुल जरूरी नहीं कि ज्ञानी विज्ञानी भी हो। अँगरेज़ीके शब्द साइंसका विज्ञान अनुवाद ठीक नहीं है। साइंसमें ज्ञान है न विज्ञान। वह तो एक तरहकी विद्या है। साइंसका तर्जुमा प्रक्रिया या अभिविद्या ठीक रह सकता था। विज्ञान किसी तरह ठीक नहीं। हाँ, तो ये निष्णात ज्ञानी होते हैं। ज्ञानीके लिए विद्वान् होना आवश्यक नहीं। अनावश्यक हो सकता है। विद्याके लिए अँगरेज़ी शब्द है 'नॉलेज' और ज्ञानके लिए अँगरेज़ी शब्द है 'विज़डम'। विद्वान् अर्थात् 'लर्नेड'। ज्ञानी अर्थात् 'वाइज़'। इसको तनिक विस्तारसे कहना होगा।

पुस्तकों या ग्रन्थोंको पढ़कर कोई आदमी ज्ञानी नहीं बन सकता। वेद-पाठी तो मूर्ख भी हो सकता है। जिसने वेदको समझकर पढ़ा है वह विद्वान् कहा जा सकता है, ज्ञानी नहीं। यही हाल गीता, क़ुरान, अंजील, ज़ेंदा-वस्या, त्रिपिटक और तत्त्वार्थसूत्र इत्यादिका है। ये ज्ञानके भण्डार हैं सही, पर इनसे जो हमें प्राप्त होता है, वह न ज्ञान है, न हो सकता है। जो भी कुछ हम सीखते-पढ़ते या सुनते हैं, वह सब विद्या होती है। ज्ञान तो केवल वही होता है जो हम गुनते हैं। बात असलमें यह है कि ज्ञान एकदम अपने अन्दरकी चीज़ है। वह हमारा स्वभाव है। पर जिस तरह आगके संसर्गसे जल गरम हो जाता है और आगकी तरह हाथ जला सकता है, वैसे ही ज्ञान क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादिके संसर्गसे एकदम मूर्खताका रूप भी ले लेता है। महामूर्खताका रूप भी ले सकता है। पागल तो महामूर्ख ही होता है। इससे किसीको इन्कार नहीं कि क्रोध मात्र पागलपनका एक रूप होता है। और पागलपन क्या है? वह है विकृत ज्ञान। यानी ज्ञानकी एक पर्याय। अब पाठकोंने समझ लिया होगा कि ज्ञानसे हमारा क्या अभिप्राय है।

ज्ञान विद्याकी अपेक्षा नहीं रखता। वह इन्द्रियनिरपेक्ष होता है। इन्द्रियों-द्वारा पाया हुआ ज्ञान परोक्ष ज्ञान नाम पाता है। यही हाल मन मस्तकवाले ज्ञानका है। प्रत्यक्ष ज्ञान चीज़ ही अलग है। जिसे लोग साक्षात्कार कहते हैं। उसीको हम प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। हमें केवल आत्माका साक्षात्कार होता है यानी आत्मज्ञान होता है। यानी अपना ज्ञान होता है। इससे आगे हमारी पहुँच नहीं। और जब यह आत्मज्ञान या स्वज्ञान स्थिर हो जाता है, तब हम निष्णात हो जाते हैं।

सूर्य-विज्ञान

क्षणिक निष्णात होनेका सौभाग्य हम सबको कभी-कभी होता रहता है। इसे हम यों साफ़ करेंगे कि सूरज तो चौबीसो घण्टे अपना प्रकाश पृथ्वीपर डालता रहता है। लेकिन पृथ्वीके क्षेत्र चौबीस घण्टेसे लेकर

तीन-तीन, चार-चार महीने तक उसका निरन्तर प्रकाश पाते रहते हैं। विशेष क्षेत्र दस-बारह घण्टे ही प्रकाश पाते हैं। उसमें भी गरमीकी धूप बहुत तेज़ मानी गयी है। लू से लोग इन्हीं दिनों मरते हैं। यह कैसी अनोखी बात है कि सूरज इन दिनों पृथ्वीसे सबसे ज्यादा दूर होता है। सबसे ज़्यादा पास होता है जाड़ोंमें यानी मकर संक्रान्तिके दिनोंमें। पर उन दिनोंकी धूप प्यारी लगती है। कारण केवल यह है कि गरमियोंकी अपेक्षा जाड़ोंमें सूरज और पृथ्वीके बीचका पटल ज़्यादा मोटा होता है। इसलिए धूपकी तेज़ी कम हो जाती है। सूरजकी निकटता बेकार हो जाती है। 'बादरका घाम' यानी बादलकी धूप सबसे तेज़ मानी गयी है। क्वारकी धूपमें हिरन काले पड़ते हैं—यह सभी जानते हैं। क्वारमें तो लू नहीं चलती, फिर लू चलानेवाली गरमीकी धूपसे क्वारकी धूप क्यों तेज़ मानी गयी? बात बिलकुल साफ़ है। गरमियोंके दिनोंमें सूरज और पृथ्वीके बीचमें आँधीके कारण धूल छायी रहती है। लू का कारण सीधे सूरजकी किरणें नहीं होतीं, धूलके कणोंकी गरमी होती है। बरसात हो जानेके बाद क्वारमें यह धूल नहीं होती। सूरज और पृथ्वीके बीचका पटल बहुत-कुछ साफ़ हो गया होता है। इसलिए सूरजकी किरणें बेहद तीक्ष्ण हो जाती हैं। पहाड़ोंपर यह तीक्ष्णता बारहों महीने मिल सकती है। कश्मीरकी मई-जूनकी धूप भी क्वार जैसी ही तीक्ष्ण मिलेगी। अब आइए ज्ञान-सूर्यपर। ज्ञान-सूर्यकी किरणें हमारे मन, मस्तक और इन्द्रियोंपर पड़ती हैं। इसके बीचमें छाया रहता है क्रोध, मान, माया, लोभ। इस कारण ज्ञान निर्मल नहीं रह पाता। क्रोधमें तो और भी ज्ञान खराब हो जाता है। यही कारण है कि हम ज्ञानी होते हुए भी यानी स्वभावसे ज्ञानी होते हुए भी कुछ नहीं जानते या बहुत कम जानते हैं, या कुछका कुछ जानते हैं। बस जब किसी कारण हमारे क्रोध, मान, माया, लोभ एक क्षणके लिए शान्त हो जाते हैं, उस समय हमारे मन, मस्तक या इन्द्रियोंपर जो ज्ञान-सूर्यकी किरणें पड़ती हैं और उस समय जो ज्ञान हमें प्राप्त होता

है वही निर्मल ज्ञान होता है। उसीका नाम प्रत्यक्ष ज्ञान है। वही साक्षात्कार है। और वही है क्षणिक निष्णात अवस्था। वही है अर्हन्त, अरहन्त, अरिहन्त अवस्था। पर क्षणिक होनेके कारण उसका होना न होना बराबर है। जिनको हम स्थायी निष्णात कह रहे हैं और जिनकी भक्तिके लिए नेतापर जोर दे रहे हैं, उन्हें भी निरन्तर साक्षात्कार नहीं होता रहता। पर उन्हें इतनी देरका साक्षात्कार जरूर हो चुका होता है, जो उनके चरित्रको निर्मल बना देता है। जिसकी निर्मलताके बलपर वे सदैव अपने मनपर और अपनी इन्द्रियोंपर क़ाबू रखे रहते हैं। तभी तो वे संसारसे विरक्त हो जाते हैं पर अपने कामसे विरक्त नहीं होते। जिस कलामें वे निपुण होते हैं, उसमें लगे रहते हैं।

आदर्श

नेताका आदर्श होता है निष्णात बनना। क्योंकि यही ज्ञानकी चरम सीमा है। यहाँ यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि इस संसारमें कोई भी गुणनिरपेक्ष नहीं हो सकता। सभी सापेक्ष होते हैं। पूर्ण ज्ञानी कोई नहीं होता। पूर्ण ज्ञान आदर्श है। आदर्श कहते ही उसे हैं, जहाँतक कभी न पहुँचा जा सके। उस तक पहुँचनेसे तो आदर्श, आदर्श ही नहीं रह जायेगा। इसलिए निष्णात आदर्श या पूर्ण निष्णात नहीं होता। इसमें उसका दोष नहीं है। संसारकी रचनाका दोष है। अब हमारे पाठकोंने अच्छी तरह समझ लिया होगा कि निष्णात भक्ति नेताके लिए कितनी आवश्यक है। क्योंकि निष्णातसे ही विशुद्ध ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

इस बातको दोहराये बिना हम नहीं रह सकते कि किसीसे भी हमें ज्ञान क्यों न प्राप्त हो, वह ज्ञान नहीं कहा जा सकता। उसे तो सीख ही नाम दिया जा सकता है। वह सीख लोक-संग्रहमें सहायक हो सकती है। हमारे ज्ञानको निर्मल नहीं कर सकती है, हमारे ज्ञानको तो निर्मल करते हैं क्रोध, मान, माया, लोभ सर्वथा नष्ट होकर या बहुत कुछ नष्ट होकर।

अगर ये दबाकर रखे जायें, पूरी तरहसे नष्ट न किये जायें तो ये कभी भी उभरकर हमारा पतन कर सकते हैं। ऐसा निष्णात छोड़ सबके साथ होता है। फिर चाहे वह नेता हो, आचार्य हो या महाविद्वान् हो।

निष्णात वही जो आमरण निष्णात बना रहे। यानी आमरण क्रोध, मान, माया, लोभसे नहीं, इनके सूक्ष्म वेगसे बचा रहे। क्योंकि ये चारों तो देहके साथी हैं। देहके रहते-रहते ये नष्ट नहीं हो सकते। इनका वेग ही नष्ट होता है। और निष्णात अवस्थाके लिए इतना ही पर्याप्त है।

अब हमारे पाठकोंने समझ लिया होगा कि क्यों हम निष्णात भक्ति-पर जोर दे रहे हैं, और यह कि क्यों कोई नेता इसके बिना नेता नहीं हो सकता। या सफल नेता नहीं बन सकता। सन्नेता तो बन ही नहीं सकता।

■

आचार्य-भक्ति

आचार्य अर्थात् 'ज्ञान-कोष' पर ज्ञानी नहीं इसका यह मतलब नहीं है कि आचार्य ज्ञानी नहीं होते, ज्ञानी तो होते हैं, पर उतने ही अंशोंमें जितने वे कामनारहित हैं, ज्ञानका सम्बन्ध पढ़ाई-लिखाईसे है ही नहीं, इसका सम्बन्ध सीधे अनुभवसे है, अनुभव भी ज्ञानमें उस समय तक परिणत नहीं होता, जबतक जिसे वह अनुभव प्राप्त हुआ है, उसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें हों, उसका मन उसके क़ाबूमें हो, आचार्य पद ऐसा पद है जो राजासे मिलता-जुलता है, इसलिए आचार्यको अपने व्यक्तित्व (पर्सनॉलिटी)को सचेष्ट और सतर्क रखना पड़ता है, दो व्यक्तित्व टकराये बिना नहीं रह सकते, वे घुल-मिलकर रहना जानते ही नहीं हैं, इसलिए आचार्य-संगठन नहीं हो सकता, नेताके द्वारा काम-चलाऊ आचार्य-संगठन हो जाता है, पर बस कामचलाऊ, नेता इन आचार्योंके बिना अपना काम नहीं कर सकता, लोक-संग्रहके काममें ये अत्यन्त आवश्यक होते हैं।

सूई और नोक

जिस तरह सूईकी नोक ही सीनेमें सब कुछ होती है, पर अलहदा टूटकर उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता, बची हुई सूईमें फिरसे नोक निकाली जा सकती है, उसे सीनेके लायक़ बनाया जा सकता है, ठीक इसी तरह नेता उस सूईकी नोक होता है, जिसका शेष भाग आचार्य-समूह होता है, इसमें सन्देह नहीं कि आचार्यसे सीधी सड़क निष्णात तक भी गयी है और नेता तक भी गयी है, पर आचार्य अपने व्यक्तित्वमें

(पर्सनॉलिटी) में इतना डूबा रहता है कि इन सङ्कोंमें-से किसीपर पदारूढ़ होनेको सोचता ही नहीं, यों नेता इनकी ओरसे निश्चिन्त होता है, दूसरी ओर ये आचार्य गण नेतासे आदर-सत्कार और भक्ति पाकर सन्तुष्ट रहते हैं और उसके मार्गके काँटे बननेकी जगह कोमल दूब बने रहते हैं।

आचार्योंकी मददसे समाज संगठनमें बड़ी सहायता मिलती है, एक तरहसे ये जीवित वेद होते हैं, जीवित स्मृति होते हैं, जीवित श्रुति होते हैं, इनकी समाजके कामके लिए पग-पगपर जरूरत पड़ती है, इसलिए इनकी उपयोगिता कितनी महत्त्वशाली होती है, पाठक इसका अनुमान कर सकते हैं। नेतासे जो भक्ति इन्हें प्राप्त होती है, उसके ये सच्चे पात्र होते हैं।

दो व्यक्तित्व

निष्णातसे आचार्य दस गुना नहीं, सौ गुना विद्वान् और चालाक होता है, पर निष्णातकी जगह नहीं ले सकता, कभी-कभी तो वह निष्णात और नेता दोनों ही से अपनेको बड़ा समझने लगता है, यह भी एक कारण है, जो उसे सन्तुष्ट रखता है। अगर किसी आचार्यमें नेता बननेकी आकांक्षा जाग जाये तो बड़ी जल्दी और बड़ी आसानीसे नेता बन सकता है। उस जगह वह कितनी देर टिक सकेगा, यह इस बातपर निर्भर है कि वह कितना संयमी है। आचार्यमें विनय होती तो है, पर उसे विनय-सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। वह अपनेमें मस्त रहता है।

आचार्य बहुत अच्छा निष्णात साबित हो सकता है, पर उसकी विद्वत्ता उसे वैसा करनेसे रोकती रहती है। 'विद्या विवादाय' भले ही ठीक हो, पर 'विद्या मदाय' यह ज्यादा ठीक है। विद्याका दूसरा उपयोग ही नहीं, 'विद्या ददाति विनयम्' यह जाने किसने किस धुनमें कह डाला। या तो वह ज्ञानी रहा होगा या कोई भाट। 'संयमो ददाति विनयम्'

उसे यह कहना चाहिए था। संयम और तप ये अगर एकार्थवाची नहीं हैं तो सहगामी अवश्य हैं। इसलिए आचार्यमें जो विनय पायी जाती है, वह अपने ढंगकी अलग होती है। मदकी रमक लिये हुए होती है। इसलिए यह उसके दोनों द्वार रोके रखती है यानी निष्णात और नेता-द्वार।

जिसमें राजा बनानेकी योग्यता होती है, वह राजा बनना कभी पसन्द नहीं करता। पसन्द भी क्यों करे। उसे तो अपनी आँखों दिखाई देता है कि राजा बननेका अर्थ है दूसरोंके हाथमें खेलना। वह दूसरोंके हाथमें खेलना क्यों पसन्द करने लगा। जब कि वह अपने हाथों खेलाना जानता है। आचार्य कुछ इसी मिट्टीका बना है, नेताकी भक्तिका वह यही अर्थ लगाता रहता है कि नेता उसके हाथमें खेल रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि नेता अपने-आपको ऐसा सिद्ध भी करता है कि वह उसके हाथों खेल रहा है। पर वास्तवमें ऐसा होता नहीं। दूसरोंके हाथमें खेलने-वाला नेता नेता ही नहीं होता। सुनेता या सन्नेता तो हो ही नहीं सकता। वह तो आचार्योंसे काम ले रहा होता है, इनसे बल भी पा रहा होता है जिस तरह बिजलीका बल्ब बैटरीसे काम भी लेता है और बल भी प्राप्त करता है। यों आचार्य और नेतामें सम्बन्ध बना रहता है। दोनों अपनेको एक-दूसरेसे बड़ा समझते रहते हैं।

गुणग्राही

नेता असलमें कुछ अजब धातुका बना होता है। उसे आप चाहें तो चाक़ूके उस फलसे उपमा दे सकते हैं जो भोथरा है या निगुट्ठल है और बेदस्तेका है। वह निष्णातको सिली बनाकर अपनेको पैना करता है और आचार्यका दस्ता लगाकर अपनेको समाजोपयोगी बनाता है। वह दोनोंका ही ऋणी होता है। तभी तो उनकी भक्तिमें चूर रहता है। यह हम पहले लिख चुके हैं कि नेतामें जो विनय होती है, वह या तो स्वाभाविक

होती है, सहज होती है या फिर उसे वैसा बना लिया जाता है। यही कारण है कि नेता सेव्य होते हुए भी विनीत होता है। और विनीतसे विनीततर होता चला जाता है। वह निष्णात और आचार्य भक्त ही नहीं होता, उसकी भक्तिका पात्र वह प्रत्येक मनुष्य होता है, जो बहुश्रुत हो, जिसके पास दूसरोंके जाननेके लिए पर्याप्त भण्डार हो। नेता गुणग्राही होता है। फिर वह किसी भी गुणको कैसे अपनी भक्तिसे वंचित रख सकता है?

आचारका अधिष्ठाता

बे-पढ़े-लिखे राजा होते आये हैं, आचार्य नहीं। बे-पढ़े-लिखे सन्त हुए हैं, आचार्य नहीं। बे-पढ़े-लिखे सफल सेनापति हुए हैं, आचार्य नहीं। बे-पढ़े-लिखे सफल व्यापारी हुए हैं, आचार्य नहीं। मतलब यह कि आचार्य पद बे-पढ़े प्राप्त नहीं कर सकते। आज भी मिनिस्टर कम पढ़े-लिखे मिल सकते हैं, लेकिन कम पढ़े-लिखे कॉलेजके प्रिन्सिपल नहीं हो सकते। यानी महाविद्यालयके आचार्य नहीं हो सकते।

आचार्य पद प्रतिष्ठित पद है, पर बिना नेताके यह शोभा नहीं पाता। जवाहरातमें अनेक गुण होते हैं, पर चमक नामी आकर्षक गुण उसमें बड़े धोखेकी चीज़ है। इस कारण कभी-कभी (आप चाहें तो कभी-कभीकी जगह बहुधा कह सकते हैं) काँचका टुकड़ा भी हीरा समझ लिया जाता है। इसी तरह वेदपाठी भी भूलसे आचार्य समझ लिया जा सकता है। वेदपाठी तो ऐसा भी होता है, जिसे इस बातका भी पता न हो कि वह किसका पाठ कर रहा है? क्या पाठ कर रहा है? क्यों पाठ कर रहा है? इसलिए मात्र वेदपाठ ही आचार्यके लिए काफ़ी नहीं है।

आचार्यमें एक गुण यह भी होता है कि वह वित्तसे बाहर कर्मठ होता है। थकान उसे छू तक नहीं जाती। काम उसपर सवार नहीं होता। वह कामपर सवार रहता है। ज़रूरत पड़नेपर वह रातों जाग सकता है।

उसको जानकारी जागते रहनेमें उसकी बड़ी सहायक होती है। चिन्तन-शीलता कभी उसका साथ नहीं छोड़ती, ज्ञानसागरमें डुबकी लगानेकी कला उसे खूब आती है। जब लाता है दूरकी कौड़ी लाता है। संगठनके काममें उसे जोत-भर दीजिए फिर वह अपने कन्धेसे कभी जूआ उतार-कर नहीं फेंकेगा। तभी तो वह नेताको बेहद प्रिय होता है। जो देश आचार्य पैदा नहीं करता, वह नेताओं-द्वारा या नेता-द्वारा संगठित तो हो सकता है, पर संगठित बना नहीं रह सकता।

भूतकालका जो कुछ हमें प्राप्त है, वह आचार्योंकी देन है। आजका जो कुछ आनेवाली सन्तान पायेगी, वह सब आजके आचार्योंकी देन होगा। आचार्योंका यह उपकार समाजपर कुछ कम नहीं है।

उत्तरदायित्वका वाहक ?

आचार्य तैयार किये जा सकते हैं, नेता और निष्णात तैयार नहीं किये जा सकते। तैयार किये हुए नेता और निष्णात धोखेकी चीज़ सिद्ध हो सकते हैं। ये तो पैदायशी ही होते हैं। आचार्यका पैदायशी होना आवश्यक नहीं। किसी भी बहुश्रुतमें यदि आत्मविश्वास पैदा हो जाये, तो वह थोड़े-से संयमसे आचार्य पद प्राप्त कर सकता है। आचार्य तैयार किये जाते रहे हैं और किये जाते हैं।

उत्तरदायित्व एक महान् कर्तव्य है। कोई बहुश्रुत इसे अपनी इच्छा-से स्वीकार कर ले और उसे निभानेमें कटिबद्ध हो जाये तो जल्दी या देरमें उसमें आचार्यत्व प्रस्फुटित हो सकता है। इसी तरह प्रस्फुटित होता आया है। उत्तरदायित्व बड़ी चीज़ है। इससे हर कोई भागता है, पर आचार्यको यह बेहद सुहाता है। समाज संगठनके लिए उत्तरदायित्व परमावश्यक होता है। यही कारण है कि आचार्य बहुत जल्दी ही जन-पूजा प्राप्त कर लेता है और नेताकी भक्ति पाकर तो वह पूजा और भी बढ़ जाती है। आचार्य और नेता मिलकर समाजोत्थानमें लग जाते

हैं। नेताकी सफलतामें आचार्यका बड़ा हाथ होता है। आचार्यकी सहायतासे नेता समाजकी रूढ़ियोंको ऐसे काटता चला जाता है जैसे कुल्हाड़ा बेंटकी मददसे। और नेता ऐसे ही समाजको सुसंगठित करता चला जाता है, जैसे दूध जामनकी मददसे। अब कहिए आचार्यको जो भक्ति दी जाती है, वह उसके गुणोंकी अपेक्षा कुछ भी होती है?

अब आपने समझ लिया होगा कि नेताका काम कितना कठिन कार्य है। और उसे आचार्योंके ढूंढ़नेमें या तैयार करनेमें कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ सकता है। यह सब वह उसी भक्तिके बल करता है, जो विनय और शीलने उसमें जागृत कर दी होती है।

●

कलावन्त भक्ति

कलावन्तमें हम सन्तोंको भी शामिल करते हैं। उन विद्वानोंको भी शामिल करते हैं जो श्रुति, स्मृति, वेद-वेदान्तके जानकार हैं, उनको तो शामिल करते ही हैं जो मूर्तिकला, चित्रकला, स्थापत्यकला इत्यादि किसी भी कलाके माहिर हैं : यही सब तो समाज-सागरके तलमें बिखरे हुए मोती या जवाहरात हैं। ये ही तो समाज-गगनके चमकते हुए ग्रह और नक्षत्र हैं।

स्वान्तःसुखाय

कलावन्त लोग अपनेमें मस्त रहते हैं। वे जो कुछ करते हैं अपनेको खुश करनेको करते हैं। 'स्वान्तःसुखाय' पद इन्हींपर पूरा-पूरा लागू होता है। ये ही वे लोग हैं, जिन्होंने कुत्तोंके दाँत बाँध रखे हैं। आदमियोंके मुँह सी रखे हैं। सतानेवालोंकी लाठियोंको जलाकर भस्म कर दिया है और घरके एक कोनेसे अपना रिश्ता जोड़ लिया है। ऐसों ही की यादमें किसीका मन गूँज उठा—

"मैं तो उन सन्तों का हूँ दास,
जिन्होंने मन मार लिया।"

इसी तरह एक उर्दू कविके मुँहसे भी निकल पड़ा —

"काटकर फेंक दे जड़, नख़्ले तमन्ना की असीर।
फूल कम्बख़्त में आया, न कभी फल आया॥"

सचमुच ये कलावन्त अपनी तमाम इच्छाओंको समेटकर अपनी कलामें ही केन्द्रीभूत कर देते हैं। तभी तो वह कला जब लोगोंके सामने आती है तो

लोग अवाक् रह जाते हैं, दम व ख़ुद हो जाते हैं।

किसी सन्तको उठा लीजिए। और फिर आप घर बैठे ही बैठे, उस समयके समाजका जीता-जागता चित्र देख लीजिए, जिस समय वह सन्त जीवित था और अपनी गाढ़पर बैठा कपड़ा बुना करता था या राँपी सुतारीसे जूतेकी तैयारीमें लगा रहता था, या चौकी बिछाये तै जमाये अपनी डॉटों मॉतोंसे (छापों या ब्लॉकसे) कपड़ेपर बेल-बूटे निकाला करता था। उसका मन वह उड़ानें लेता था, जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। समाजके चित्रको खींचनेमें जितनी महारत इन सन्तोंको हासिल होती थी उसे सुनने-समझनेमें हमारी स्मृति और बुद्धि घबरा उठती है। ये अपढ़ हम पढ़े-लिखोंको शर्मा रहे हैं। कहते तो हम यह हैं कि हम जवान समयमें निवास कर रहे हैं, पर हमारे मूर्खता-भरे काम यह साबित करते मालूम होते हैं कि हम बाल समयसे भी पीछे हैं। नेता इन कलावन्तों और सन्तों तक पहुँचकर हमारे धर्मका नाश कर देता है। वह इन्हीं की मार्फ़त हमें हमारा ज्ञान कराता है।

नेता इन सब कलावन्तोंको समाजकी थाती समझता है। तभी तो वह उनसे भक्ति करता है। इनको कोनेसे निकालकर इन्हें वह जगह दिलवाता है, जिसके ये हक़दार होते हैं। दीपक मटकेमें रहकर भी अपना पूरा प्रकाश देता रहेगा, पर उसे समेटे रहेगा। उसीको अगर छतपर रख दिया जाये तो प्रकाश दूर-दूर तक फैल जायेगा। हम तुम सब उससे फ़ायदा उठाने लगेंगे। बस नेता इन चमकदार दीपोंको ऊँचा स्थान देकर समाजमें फैले अँधेरेको भाग जानेके लिए मजबूर कर देता है। प्रकाशमें आकर सारा समाज खलबला उठता है। काम चाहने लगता है, काममें लगनेके लिए उतावला हो उठता है। अपने परायेको समझने लगता है, इसलिए नेताका काम अपने-आप हलका हो जाता है।

वह नेता ही क्या जिसे अपनी शक्तिका ज्ञान न हो। वह देहकी तुच्छताको भी ख़ूब समझता है, मनकी महत्ताका भी उसे ज्ञान होता है,

आत्म-शक्तिकी अनन्तताका भी उसे भान होता है, तभी तो वह अपनेसे ज्यादा इन कलावन्तों, आचार्यों और निष्णातोंको समझता है। यह नेताका हलकापन ही है जिसके कारण वह समाज-सागरके तलपर तैरता रहता है और तरंगोंके कारण ऊँचा-नीचा होता रहता है।

कलाकारकी नज़र

कलावन्तकी नज़र हमारी आपकी नज़रसे भिन्न होती है। यही हाल सन्तोंका होता है। हम-तुम उनकी जिस कृतिको बहुत महत्त्व दे रहे होते हैं, वह उनकी नज़रमें कुछ नहीं होती। इस विषयमें एक छोटी-सी कथा सुनिए—

एक था चित्रकार। किसी कारण उसे राजाके दरबारमें हाज़िर होना पड़ा। राजाने उससे अपने बेटेका चित्र खींचनेके लिए कहा। क्योंकि उस बेटेका राजतिलक होनेवाला था। उसने छह महीनेकी मोहलत माँगी। वह उसे मिल गयी। छह महीने बाद उसकी तलबी हुई, वह दरबारमें हाज़िर हुआ। उससे पूछा गया चित्र तैयार हुआ ? चित्रकारने उत्तर दिया, नहीं अभीतक नहीं। राजा बोला—आज छह महीने पूरे होते हैं। चित्रकार बोला—पूरे होते हैं तो बुलवाइए कुँवर साहबको। मैं अभी चित्र तैयार किये देता हूँ। कुँवर साहब बुलाये गये, एक घड़ीके अन्दर चित्रकारने चित्र तैयार कर दिया। दूरसे देखनेपर असल नक़लमें भेद करना मुश्किल था। राजा बहुत प्रसन्न हुए पर बोले यह छह महीनेकी मोहलत किसलिए माँगी थी ? उत्तर मिला अभ्यासके लिए।

कलावन्त गोशापसन्द यानी एकान्तप्रिय होते हैं। निरन्तर काममें लगे रहना ही इनकी तपस्या है। सच्चे अर्थोंमें यही तपस्वी होते हैं। इन्हींकी सोहबतमें बैठकर आदमी कुछका कुछ हो जाता है। इनका सत्संग ही नेताकी जीवित पाठशाला होती है। वह सारी कला यानी जीवन-कला इन्हींसे सीखता है। सफलताके तत्त्व, निर्भीकता, निष्काम और निःस्पृह

होना, निःकांक्षी होना, सतत काममें लगे रहना, प्रसन्न रहना इत्यादि सब नेता इन्हींसे प्राप्त करता है। नेता और इनमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहता है, यानी नेता इनसे प्रेरणा लेता है और नेताके द्वारा उचित स्थान पाते हैं। जिस देशको कलावन्त प्राप्त न हों, उस देशमें पैदा हुआ नेता परिश्रम तो कर जायेगा, समाजको थोड़ा-बहुत उठा भी जायेगा, पर सफल मनोरथ न हो सकेगा। इस तत्त्वको नेता सब समझता है तभी तो वह कलावन्तोंको खोज निकालता है और उनकी भक्तिमें लग जाता है।

नेताकी निगाह कितनी पैनी होती है और नेताकी परख कितनी खरी होती है, इसे दूसरे जानते हैं, नेता स्वयं नहीं जानता। आँख भी अपने-आपको कब देख सकती है? यों तो नेता पैदायशी होते हैं, पर उन्हें अपने पैदायशी गुणोंको विकसित करनेके लिए बड़े अभ्यासकी ज़रूरत होती है। इस अभ्यासके उपादान कारण तो नेता स्वयं ही होते हैं, पर निमित्त कारण होते हैं उसके समयके कलावन्त और उसके समयकी सामाजिक स्थिति। यदि इनमें-से कोई एक भी पूरी-पूरी अनुकूल न हो तो दसियों पैदायशी नेता बिना खिले ही मुरझाकर रह जाते हैं। यही कारण है कि सुनेता समाजको कभी-कभी ही मिल पाते हैं। बरसों तक समाज स्वार्थी नेताओंके चंगुलमें फँसा, रूढ़ियोंके जालमें लिपटा अपनी साँस गिनता रहता है।

तीन वर्ग

विपरीत बुद्धि—नेताको इस बातका ध्यान रहता ही है कि समाजमें एक दल ऐसा होता है जो विपरीत बुद्धिका होता है, उससे वह भिड़ता नहीं है। उसके प्रति वह मध्यस्थ भाव रखता है। उपेक्षा भाव नहीं रखता, क्योंकि उसे वर्गको भी समाजके साथ ले चलना होता है। यह वह वर्ग होता है जो अपने अज्ञानमें मस्त रहता है—अपने अज्ञानको ही ज्ञान मानता है। ऐसोंको राहपर लाना कठिन नहीं असम्भव होता है। इनको राहपर

लानेकी कोशिश ही नहीं करना चाहिए। सन्नेता तो इस काममें लगते भी नहीं। वे खूब समझते हैं कि न तिरनेवाले रोड़े भी पानीके ज़ोरके बहाव-में बहे विना नहीं रहते। तब ये मूढ़ समाजकी बाढ़में किस तरह वहाँ रह सकते हैं जहाँ ये हैं।

अज्ञानी—नेताके सामने एक वर्ग और होता है। वह वर्ग भी ऊपर बताये वर्गसे कहीं ज़्यादा अज्ञानी होता है, पर उसे इतना ज्ञान ज़रूर होता है कि वह अज्ञानी है। वह अज्ञानसे निकलनेके लिए छटपटा रहा होता है और शायद उन्हींके लिए नेता जन्म लेता है। यही वह वर्ग है जो नेताके कारखानेमें भट्टीमें गरम किया जाता है, अहरनपर लाया जाता है और ठोक-पीटकर ज्ञानी बना दिया जाता है। हमारे पाठक ये न समझ लें कि ऐसे वर्गके साथ कोई सख्ती की जाती है। वह तो सीखकी भट्टीमें होकर निकाले जाते हैं, कर्मके अहरनपर लाये जाते हैं और परिश्रमके हथौड़ोंसे ठोक किये जाते हैं। पता नहीं लोहा इस्पात बननेके लिए जिन-जिन अवस्थाओंमें-से गुज़रता है उनमें वह दुःख मानता है या सुख, पर यह मानी जाती और देखी हुई बात है कि समाजका यह अज्ञानी वर्ग इस भट्टीकी आग और हथौड़ेकी चोटको सहर्ष सह लेता है, नेताका एहसास मानता रहता है। अपने पीछे ऐसी औलाद छोड़ जाता है, जो नेताके नामको अमर कर देते हैं। यही वह वर्ग होता है जो अपने जय-जयकार ध्वनिपर विठाकर नेताको कहींसे कहीं जा विठाता है। अज्ञान ही ज्ञानकी क़दर जानता है। बीमार ही वैद्यका मूल्य समझता है। भटका ही नेताका अनुयायी बनता है। क्योंकि वह होता ही उनके लिए है।

आत्म-विस्मृत—नेताके सामने एक वर्ग और होता है। यह अपने ढंग-का अनोखा होता है। यह सब कुछ समझता है। विद्वान् होता है, ज्ञानी होता है, पर अपनी शक्तिको इस तरह भूला हुआ होता है, जैसे वह आदमी जो अपनी जेबमें पड़े हुए रुपयेको भूल गया हो और हलवाईकी दूकानके

आगे खड़ा-खड़ा बेहद भूखा होते हुए पूरी-कचौरीके लिए तरस रहा हो। मिठाई देखकर उसके मुँहमें पानी भर आ रहा हो। लारपर लार टपक रही हो। पेटमें भूखके चूहे आँतें कुतर रहे हों, पर यह खड़ा-खड़ा आँखें फाड़-फाड़ अपनी शक्तिका ह्रास कर रहा हो। यह वर्ग नेतासे ज्यादा मेहनत नहीं चाहता, उससे तो सिर्फ़ वह इतना ही चाहता है कि वह उसके कानमें कह दे कि तुम्हारी जेबमें रुपया है। वह वर्ग उस शेर-जैसा ही होता है जो भेड़ोंमें रहकर पला हो। उसे पानीके किनारे ले जाकर अपने मुँहका दर्शन हो तो करा देना है। बस नेता इस वर्गको शक्तिकी याद-भर दिला देता है। या यों कहिए कि इनके मनके सामने आत्म-स्मृतिका शीशा लाकर खड़ा कर देता है। बस यह वर्ग एकदम अपनेमें आ जाता है। इन्हींके द्वारा क्रान्तिका ज्वालामुखी भभक उठता है। और रूढ़ियोंका झाड़-झंकाड़ उसके लावेसे भस्मीभूत हो जाता है। इसीके बलपर नेताके नेतृत्वको चार चाँद लग जाते हैं। यह कहना बड़ा मुश्किल है कि नेताने इसको बनाया होता है या इसने नेताको बनाया होता है।

इस वर्गको जगाये बिना समाजका काम नहीं हो सकता। पर इस वर्गका जगाना खतरेसे खाली नहीं होता। यही तो वह वर्ग है, जिसमें-से नेता निकलते हैं। इसीमें-से ऐसे अर्जुन निकलते हैं, जो गुरु-को मारनेकी आज्ञा गुरुसे ही लेने पहुँचते हैं। इसमें-से ही ऐसे युधिष्ठिर निकलते हैं जो अपने पूज्य पुरुषोंपर धनुष-बाण उठानेसे पूर्व उनके चरण छूना और उनसे आशीश प्राप्त करना ज़रूरी समझते हैं। इस वर्गसे बचनेकी कला अगर नेताको नहीं आती तो वह जल्दी ही पदच्युत हो जायेगा। पर जो अबतक बताये गये गुणोंसे सम्पन्न है यानी जो दृढ़ विश्वासी है, विनयशील सम्पन्न, तपस्वी-त्यागी है और इसी तरहके गुणों-से विभूषित है, उसे यहीं तो अपनी कृष्णकला दिखानी होगी। हथियार न उठानेकी प्रतिज्ञा करके भी वार लॉर्ड यानी युद्धका सर्वेसर्वा बने रहना मामूली काम नहीं। यह नीतिकलाके नैपुण्यकी पराकाष्ठा है। पर इस

पराकाष्ठा तक तो नेताको पहुँचना ही पड़ता है। आप चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि इस वर्गको जगाना ऐसा ही है, जैसे मरे शेरको पिंजड़ेमें बन्द किये बिना उसमें जान डाल बैठना। पर इतनी जोखिम लिये बग़ैर नेताका काम भी तो नहीं चलता। नेतृत्वकी परीक्षा भी तो नहीं होती। इसलिए नेता सोच-समझकर यह खेल खेलता है और पदच्युत नहीं हो पाता।

नींवका पत्थर

एक कर्तव्यपालक वर्ग भी होता है। वह सच्चे अर्थोंमें त्यागी होता है। यह नेतासे इतना ही फ़ायदा उठाता है, जितना कोई किसान पौ फटनेसे। वह स्वयं ही काममें लग जाता है और बिना चूँ-चराके नेताके पीछे हो लेता है, वह तो नेताको भी अचरजमें डाल देता है। नेता भ्रममें पड़ जाता है—कथा तो यों है कि गोपियोंको अनेक कृष्ण दिखाई देने लगते हैं। नेताको यह मालूम होने लगता है कि इस वर्गके प्रत्येक व्यक्तिमें मेरा ही रूप है, क्योंकि यह वर्ग नेताके मार्गमें तनिक भी आड़े नहीं आता बस यों समझिए कि अगर नेता मस्तक होता है तो यह वर्ग कर्म इन्द्रियाँ होता है। खुलासा यह कि एकमें अनेक और अनेकमें एककी युक्ति पूरी-पूरी चरितार्थ हो जाती है। आप चाहें तो योग कह सकते हैं कि यह वर्ग नेता सूर्यकी किरणें बनकर काम करता है। तभी तो कभी-कभी न कुछ समयमें किसी देशका समाज कहींसे कहीं जा पहुँचता है।

नेता मन्दिरके कलशकी तरह चमकता जरूर है। पर यह आपने समझ ही लिया होगा कि जिस मन्दिरका वह कलश बना हुआ है उसकी कौन ईंटें हैं, कौन गारा है, और कौन है बुनियादका पत्थर। और अगर वह चमकता है तो कौन-सी वह आग है, जिसने उसे निर्मल बनाकर यह चमक प्रदान की है। यही समझ आपको भ्रममें डाल सकती है कि समाज-

के उत्थानका यश किसके सिर मढ़ा जाये ! पर इसमें घबराहट क्या ? बाप अपने बेटेको दूल्हा बनाकर घरमें बन्नी ले आता है। इससे बापका महत्त्व घटता नहीं है और बढ़ता है, उसी तरह नेताके सिर यशका सेहरा बाँधनेसे समाजका भी महत्त्व बढ़ता है, क्योंकि वह समाजका ही अंग होता है। देश भी मशहूर होता है, क्योंकि वह देशका ही तो वासी होता है।

नेता जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है उसका काम भी बढ़ता जाता है। बालकको दाढ़ी-मूँछका बेहद चाव होता है। नक़ली लगाता फिरता है। पर जवान होकर वे दाढ़ी-मूँछें कुछ ही दिन उसमें ऐंठ पैदा करती हैं। फिर तो वह उनसे ऊब उठता है, और सेफ्टीरेज़र जेबमें रखने लगता है। वही हाल नेताका होता है। जिस प्रसिद्धिकी उसे कभी चाह थी, वह उसे बोझ मालूम होने लगती है। क्षणिक सुख देकर प्रसिद्धि अपने सुखको ऐसे ही जेबमें रख लेती है, जैसे बिजली चमककर अपनी चमकको।

●

बोलनेकी कला

नेताके लिए न वाक्य-रचनाकी जरूरत होती है, न भाषण-कलाकी। उसकी बोलीमें अपने-आप एक जोरदार असर पैदा होने लगता है। अँगरेज़ी सरकारने लोकमान्य तिलकको पंजाब जानेसे रोक रखा था। तब उन्होंने अँगरेज़ी सरकारको यह पत्र लिखा कि 'मुझे पंजाब जाने दिया जाये। मैं यह वचन देता हूँ कि मैं वहाँ भाषण नहीं दूँगा।' पर उन दिनोंकी सरकार इस बातपर राजी नहीं हुई। लोकमान्यका इतना नाम हो गया था कि उनके दर्शनसे ही जवान क्रान्तिकारी बन बैठता था। लोकमान्य भाषण तो देते थे, पर उन्हें भाषण-कलाका जानकार नहीं कहा जा सकता। उनके भाषण किसी प्रोफ़ेसरके लेक्चरके समान होते थे। उससे प्रोफ़ेसर और कॉलेजके विद्यार्थी प्रभावित हो सकते थे, जन साधारण नहीं। उन दिनोंके दूसरे नेता विपिनचन्द्र पाल अच्छे व्याख्याता थे। उन्हें बोलनेकी कला आती थी। वे उस कलाके माहिर थे। वह कला उन्हें सहज प्राप्त थी। पंजाबके शेर लाला लाजपतरायने बोलनेकी कला सीखी थी। उन्होंने उसपर परिश्रम किया था। वे तैयार होकर प्लेटफ़ॉर्मपर आते थे। इसलिए उनका भाषण जन-साधारणको भी खींचता था। उन दिनों ये नेतात्रय लाल, बाल, पालके नामसे मशहूर थे।

यह ज़रूरी तो नहीं कि बोलनेकी कला नेताको आना ही चाहिए, पर इस कलासे भूषित नेता अपने कार्यको सरल बना सकता है और थोड़े समयमें बहुत कुछ कर दिखा सकता है। इसलिए इस कलाकी जानकारी निहायत जरूरी है।

भाषण-कला

भाषण कैसे देना चाहिए, इस विषयपर अँगरेज़ीमें अनेक पुस्तक पढ़नेको मिल सकती हैं। उनमें कुछ ऐसी बातें मिलेंगी, जिन्हें जान-सुनकर हमारे पाठक शायद हँस पड़ेंगे, जैसे शीशेके सामने खड़े होकर व्याख्यान देना या किसी पहाड़की गुफामें खड़े होकर व्याख्यान देना और उसकी गूँज सुनना या यह कि तैयार किया हुआ व्याख्यान रट जाना इत्यादि। पर हम कोई ऐसी बात लिखनेवाले नहीं हैं। हम इन सबको बनावटी समझते हैं। नाटकके पात्रोंके लिए यह सलाह ठीक हो सकती है। पर संसारके नाटकके पात्रोंके लिए नहीं। क्योंकि संसारका नाटकघर हमारा निर्मित किया हुआ नहीं है। वह जिस तरह निर्मित हुआ है, उसी ढंगसे हमें अपना निर्माण करना होगा। और उसी तरह बोलनेकी कलाका विकास करना होगा। बालकों तकको व्याख्यान रटाना जब उनके लिए हानिकर सिद्ध हो सकता है, तब नेताके लिए तो यह और भी ज्यादा हानिकर सिद्ध होगा। बालकको अगर कमरेमें रखी हुई चीजोंपर अलग-अलग एक-एक मिनिट बोलनेको कहा जाये तो पांच-सात मिनिट धाराप्रवाह बोल सकेगा और दस-बारह दिनमें ही वह अपने वयके योग्य अच्छा बोलनेवाला बन सकेगा। उसके बाद किसी भी साधारण विषयपर वह पूर्ण नोटिसके बोल सकेगा। यह बात हम ग्यारह-बारह बरसके बालककी कह रहे हैं और अनुभवपूर्वक कह रहे हैं। रटे हुए व्याख्यान बोलनेकी कलाको नष्ट कर देते हैं और कभी-कभी ऐसी बाधा उपस्थित कर देते हैं कि बोलनेवालेको शरमाकर अधबीचमें ही अपना स्थान ग्रहण करना पड़ जाता है। इसलिए यह किताबी रीति कभी नहीं अपनानी चाहिए। और न हम इस तरहकी कोई बात यहाँ लिखेंगे न करनेको आपको सलाह देंगे।

गोली और बोली

व्याख्याताका आदर्श क्या होना चाहिए? इस प्रश्नका उत्तर अगर

साफ़ हो जाये तो बोलनेकी कला अपने-आप विकसित हो जाये। यह सुनकर हमारे पाठकोंको अचरज होगा कि जो आदर्श हम उनके सामने रखने जा रहे हैं वह वही होगा जिससे मनुष्यने उस वक़्त काम लिया जब वह बाल्यावस्थामें था। यानी सूत्ररूपमें बोलना, बहुत थोड़ा बोलना, एक शब्दसे काम चल सके तो दो शब्द न बोलना। 'गोली' और 'बोली' दोनों ही बेसर और असरदार होती हैं। बेसर उस वक़्त होती है जब बेपरवाहीसे यों ही फेंक दी जाये। असरदार उस वक़्त होती है, जब गोली बन्दूक़की नलीसे फेंकी जाये और बोली भावोंकी नलीके रास्ते जनता तक पहुँचायी जाये।

बोलनेमें भाव ही कारण होते हैं। जो भाषणको कलापूर्ण बना देते हैं। हमने एकसे ज्यादा बार सिनेमाका शूटिंग देखा है। हाँ, या नहीं इनको कहलवानेमें दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह मिनिट लग जाते हैं और डायरेक्टरको तसल्ली नहीं हो पाती। ये हाँ और नहीं तो पचास तरह कहे जा सकते हैं। इस तरह भी कहे जा सकते हैं कि हाँका मतलब नहीं निकले और नहींका मतलब हाँ हो। तब बताइए रटा हुआ व्याख्यान किस काम आ सकता है? अगर वही असरदार हो सकता तो ग्रामोफ़ोन रिकॉर्ड नेता बन बैठते। वास्तवमें यही वह तत्त्व है, जिसे नेताको समझना है। और वह सारे तत्त्व इसी बीजसे विकसित हुए हैं, जिसे मनुष्य समाजने बालपनेमें बोया था।

'हाँ'! 'वाह'! ये दो शब्द शुरूमें कितने असरदार थे इसका अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता। यह सुनकर आपको अचरज होगा कि समाजको जिस बालपनेमें आपका इतिहास मूर्ख होना सिद्ध कर रहा है उस समय वह समाज बेहद स्वाभिमानी था, सचाईका वह पुतला था। आदमीका सिर काट डालनेवाले कर्म करते हुए भी पूरा अहिंसक था। अचौर्य उसका स्वभाव था। अपरिग्रही रहना उसके लिए खेल था। ब्रह्मचर्यकी कला उसे जन्मसिद्ध थी। उन दिनों भी व्यक्तिसे भूलें होती थीं। पर समाजके

खिलाफ़ घोर पापका दण्ड था पापी या दोषीको किसी बुजुर्गके सामने खड़ा करके उसके मुँहसे सिर्फ़ हाँ! शब्द कहलवा देना। नब्बे फ़ीसदी दोषी 'हाँ' शब्द सुनकर इतना धक्का अनुभव करते थे कि उनका प्राणान्त हो जाता था। शेष दस फ़ीसदी घोर पश्चात्ताप करते थे और फिर कभी दोबारा वैसी भूल नहीं करते थे। यही 'हाँ' होना चाहिए व्याख्याताका आदर्श। 'वाह' शब्दका भी यही हाल था। इस शब्दको सुनकर व्यक्ति जानपर खेलनेको तैयार हो जाता था। आज लाखों रुपयेका इनाम भी 'वाह' शब्दका स्थान नहीं ले सकता। यह 'वाह' भी व्याख्याताका आदर्श होना चाहिए।

समाज जंगली और बाल्यावस्थामें इन आदर्शोंपर जीवित रह चुका है, आज सभ्य होकर भी उन्हीं आदर्शोंको सामने रखकर यह अपने लक्ष्यको प्राप्त कर सकता है।

यह और भी अनोखी बात है कि जैसे-जैसे हमारा समाज और हम सभ्य होते गये वैसे-वैसे हम स्वाभिमान खोते गये, अभिमानीकी जगह घमण्डी बनते गये और आज बेहयाईपर उतर आये हैं 'हाँ' से हम 'हा', 'मा' तक आये, फिर 'हा', 'मा', 'धिक्' तक पहुँचे और अब तो यह हाल है कि बेहयाईके साथ व्याख्यानपर व्याख्यान दिये चले जा रहे हैं। हमपर किसीका कोई असर नहीं होता। आदर्शपर आदर्श कथाएँ सुनते हैं। वे एक कानसे ले दूसरे कानसे निकाल देते हैं। हम गुम्बदपर फेंकी हुई ईंट हैं या चिकने घड़ेपर पड़ी हुई बूँद, जो कहीं टिक ही नहीं पाते? ऐसे समयमें बोलनेकी कला ही कुछ असर कर सकती है। भाव-रहित कला उस असरसे वंचित रहेगी जिसके लिए वह सीखी जा रही है।

नक़लके बारेमें दो कहावतें प्रसिद्ध हैं, 'नक़ल रा चिअकल' दूसरी 'नक़्ल रा बिसियार अक़्ल' यानी नक़ल करनेमें अक़्लका क्या काम। दूसरी यह कि नक़ल करनेके लिए बहुत अक़्ल चाहिए। ये दोनों कहावतें उलटबाँसी-सी मालूम होती हैं। पर वैसी हैं नहीं। गान्धीजीकी तरह कोई

भी आदमी एक कपड़ा लपेट सकता है और अर्दामें पर्दा लगा सकता है। उन्हींकी तरह बैठकर टूटी-फूटी हिन्दीमें प्रवचन कर सकता है। इस नकलमें अकलकी कहाँ जरूरत है? पर अगर यह चाहें कि उनके भाषणका वही प्रभाव हो जो गान्धीजीका हुआ करता था, तो नकल करनेके लिए बहुत अक्लकी जरूरत होगी। अब पाठकोंने समझ लिया होगा कि किसीकी नकल कर बैठना कितना टेढ़ा व्यापार है। जितनी अक्ल लगाकर आप किसी नेताकी नकल करेंगे उससे आधी अकलमें तो आप अपना ढंग तैयार कर सकते हैं। और वह नकलसे कहीं ज्यादा असरदार सिद्ध हो सकता है। नकल नकल ही रहेगी, वह असल कभी भी नहीं बन पायेगी। इसलिए उसे स्टेज या मंचके लिए ही छोड़ देना चाहिए। या नाटककी सीमाके अन्दर ही रहने देना चाहिए।

जानकारीकी जरूरत

बोलनेकी कलाके लिए जानकारी ही सबसे बड़ी चीज होती है। जानकारी हाजिर-जवाबी पैदा कर देती है। यही हाजिर-जवाबी क्षमा, चातुर्य आदि नामसे पुकारी जाती है। नेताकी जानकारी जितनी ज्यादा होगी, उतना ही उसका भाषण चमत्कारी और प्रभावपूर्ण होगा।

नेताके लिए प्रसन्नवदन होना या प्रसन्नवदन रहना अत्यावश्यक है। प्रसन्नवदन यानी हँसमुख चेहरा नाटकके पात्र भी रख लेते हैं। वे ही थोड़ी देरमें रोता हुआ चेहरा भी बनाकर दिखा सकते हैं। गम्भीर मुख भी बन सकते हैं, पर फिर असर क्षणिक ही छोड़ सकते हैं। नाटक-घरसे बाहर निकलते ही वह असर छू हो जाता है। इसलिए नेताका चेहरा हँसमुख बना हुआ न हो। हँसमुख ही हो। हँसमुख होना निर्भर करता है—बेहद जानकारीपर।

नेताको सचमुच इतनी जानकारी होती है कि अगर लोग उसे सर्वज्ञ कह बैठें तो कोई भूल नहीं होगी। इस जगत्का सर्वज्ञ क्या होगा?

"निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते" की कहावतके अनुसार सर्वज्ञ-शून्य जगत्में मामूली बहुज्ञ ही सर्वज्ञ मान लिया जाता है। यह सापेक्ष सर्वज्ञ पदवी बड़े काम आती है। इससे बोलनेकी कला जगमगा उठती है। और फिर असरदार तो होती ही है। थोड़े शब्दोंमें बोलनेके लिए हर तरहकी जानकारी अत्यावश्यक है। प्रश्न या शंका किसीके मुँहसे निकली नहीं कि नेताने उसका सार ताड़ लिया। बीचमें ही रोकते हुए यह कहकर कि मैंने तुम्हारी बात समझ ली, उत्तर देना शुरू कर दिया। तब क्या नेताका दिल खिल न उठेगा? तब उसे प्रसन्नवदन रहनेमें प्रयासकी कहाँ जरूरत है?

अँगरेजीकी एक कहावत है, "वण्डर इज़ दी इफ़ैक्ट ऑव इग्नोरैन्स" वैसे ही "ऐंगर इज़ दी इफ़ैक्ट ऑव इग्नोरैन्स" अर्थात् अचरज मूर्खता ही है। उसी तरह क्रोध भी मूर्खताका परिणाम है, यानी वह अज्ञान-जनित होता है। क्रोध चेहरेकी प्रसन्नताको खाये बिना नहीं रह सकता। इसी तरह आप यह भी कह सकते हैं कि यह अज्ञान ही है, जो हँसमुख चेहरेको रुआँसा बनाये रखता है। मूर्खोंके चेहरेपर भी प्रसन्नता नाच करती हुई मिल सकती है। पर उस प्रसन्नताको कौन नहीं पहचानता। उस प्रसन्नताको तरस मिल सकता है, प्यार मिल सकता है, लाड़ मिल सकता है, पर सम्मान नहीं मिल सकता, क्योंकि उसमें हम कुछ खोते हैं, पाते नहीं। इसलिए नेताके चेहरेपर खेलनेवाली प्रसन्नता ज्ञान-जनित ही होनी चाहिए, न कि बालस्वभाव-जनित।

बोलनेकी कला कितनी तरहकी होती है यह गिनकर नहीं बताया जा सकता। प्रत्येक नेताने अपने-अपने समयमें जो शैली अख्तियार की, वह अपने ढंगकी अलग थी। हमने अपने जीवनमें स्वामी राम, स्वामी विवेकानन्द, लाल, बाल, पाल, मालवीयजी और अनेक छोटे-बड़े नेताओंके व्याख्यान सुने हैं। जवानीमें स्वामी रामकी नक़ल भी की है। औरोंकी भी नक़लका सार हम शब्दोंमें रख सकते हैं। पर यहाँ तो हम इतना ही

कहना चाहते हैं कि हरेककी शैली अपनी थी। इसलिए गिनना असम्भव है कि बोलनेकी कला कितने तरहकी थी। फिर भी उसकी क़िस्में हो सकती हैं।

बोलनेकी शैली एक तो वह होती है, जो उपमा और उदाहरणों-भरी रहती है। यह बड़ी असरदार होती है—आप लाख अपनी कहते रहिए, एक दर्जीकी समझमें मामूली-सी बात नहीं आ सकती, अगर आप उदाहरणमें नाईकी क़ैंची, उस्तरे या सिल्लिका प्रयोग कर रहे हैं। वही बात उसकी समझमें बड़ी आसानीसे आ सकती है अगर आप उदाहरणमें सूई, धागे, काज, बटन, कली, आगो-पीछा, कफ़, गला इत्यादि पारिभाषिक शब्दोंसे काम ले रहे हैं। इस सिलसिलेमें हम एक आप-बीती सुनाये बिना न रहेंगे। सुनिए :

मेरठके एक मन्दिरमें हमारा प्रवचन हो रहा था। विषय यह था कि आत्मा किस देहमें कैसे काम करता है? आर्ष ग्रन्थोंका कहना था कि जो प्राणी मन-रहित होते हैं उनका आत्मा सीधे उनकी इन्द्रियोंसे काम लेता है। और उनके ही द्वारा काम करता है। इन्द्रियोंका भी सीधे आत्मासे सम्बन्ध रहता है। पर जो ऐसे प्राणी हैं जिनका मन भी उन्नत हो गया है उनकी इन्द्रियाँ सीधे आत्मासे न सम्बन्ध रखती हैं न रख सकती हैं। उनकी पहुँच आत्मा तक मनके द्वारा ही होती है।

इस प्रवचनपर एक शंकाकारकी शंका थी कि यह क्या? मनके उन्नत होनेपर आत्माकी यह आज़ादी क्यों छिन जाये कि वह इन्द्रियोंसे सीधे सम्बन्ध न रख सके। हमने जड़-चेतन सभी तरहके उदाहरण देकर उन्हें आर्ष सचाईका विश्वास कराना चाहा, पर उनके गले एक न उतर पाया। उनकी शंका बढ़ती ही गयी, घटी नहीं। मेरा ज्ञान भी अपनी सीमा छू चुका था। क्रोध-क्षेत्रमें प्रवेश होनेको ही था कि मैं अपने पास बैठे एक सज्जनसे पूछ बैठा कि ये शंकाकार काम क्या करते हैं? उसने बताया ये वकील हैं। यह सुनकर मेरा ज्ञान फिर केन्द्रपर आ गया और

उदाहरण मिल गया। मैंने उन्हें समझाना शुरू किया कि देखिए जैसे यू० पी० में कलक्टरोंके ऊपर कमिश्नर हैं। इसलिए उनका सीधा सम्बन्ध गवर्नरसे नहीं होता और वाइसरायसे तो हो ही नहीं सकता। मद्रासमें कमिश्नर नहीं हैं। वहाँके कलक्टर गवर्नरसे सीधा सम्बन्ध रखते हैं। यह उदाहरण सुनकर वे बोले मैं बिलकुल समझ गया।

आपका पोलिटिकल ज्ञान कमज़ोर होगा, तब भी आप टोटेमें रहेंगे। दूसरी भी एक ऐसी ही घटना है :

हाईकोर्टकी बेंचके सामने क़त्लका एक मुक़दमा था। किसी आदमी-को ज़हर दिया गया था। कैमिस्टकी रिपोर्ट थी कि इस आदमीको संखिया दिया गया है। मामला साफ़ था। सैशन जजसे मुलज़िमको फाँसीकी सज़ा हो चुकी थी। बेंचका एक जज सैशन्स जजके फ़ैसलेसे सहमत था। दूसरे जजकी राय अभी कुछ नहीं बन पा रही थी। उसकी नज़र जैसे ही इस बातपर पहुँची कि लाशके पेटका मवाद जिस शीशीमें भरकर कैमिस्टके पास भेजा गया था वह शीशी रास्तेमें टूट गयी थी। और उसका सब मवाद टीनके डिब्बेमें फैल गया था। इसलिए जजको सन्देह हो गया। उसने कैमिस्ट्री विषय लेकर एम० एस्-सी० किया था। वह जानता था कि टीन चढ़ानेमें संखिया काममें आता है। इसलिए उसने कैमिस्टकी रिपोर्ट कैमिस्टके पास वापस भेज दी। और उससे यह पूछा कि यह लिखकर दो कि इस मवादमें कितना संखिया असली था और कितना टीनका मिल गया। कैमिस्टका जवाब आया कि यह बताना उसकी ताक़तसे बाहर है। परिणाम यह हुआ कि क़ातिल सन्देहकी बिनापर छोड़ दिया गया।

नेताको विज्ञानकी कितनी जानकारी भी होनी ही चाहिए। इस तरह का ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उसे किसी कॉलेजमें भर्ती होनेकी ज़रूरत नहीं है। यह समझ उसे कलावन्तों, विद्वानों, सन्तों और बहुश्रुतोंकी संगतिमें बैठनेसे अपने-आप आ सकती है। या यों कहिए कि आ जाती है। शर्त

केवल यही है कि उसका विकास उसी क्रमसे हुआ हो जिस क्रमका हम ऊपर वर्णन कर आये हैं।

रूपकी रमणीयता

दूसरा ढंग यह है कि किसी रूपकके द्वारा व्याख्यानको जोरदार बनाना। इस तरहकी एक शैली सुनिए :

एक व्याख्याता अपने श्रोताओंसे प्रश्न करता है कि एक माँके तीन लड़कियाँ थीं। पहली कन्वैंण्ट स्कूलमें पढ़ती थी, दूसरी संस्कृतशालामें पढ़ती थी और तीसरीको घरका काम प्रिय होनेके कारण वह माँसे ही कुछ पढ़-लिख लेती थी। कन्वैंण्ट स्कूलवाली लड़की माँको 'ममी' कहती थी। संस्कृत पाठशालामें पढ़नेवाली माँको 'माताजी' कहकर पुकारती थी। घरपर पढ़नेवाली माँको 'अम्मा' कहकर बोलती थी। एक दिन तीनों मिलकर बैठीं। ममी, माताजी और अम्मा शब्दको लेकर झगड़ा खड़ा हुआ। हरेक लड़की अपने-अपने सम्बोधनको ठीक समझती थी। उनकी आपसी लड़ाई यहाँतक बढ़ गयी कि एक-दूसरेकी चोटी खींचने लगीं। इतनी बात कहकर व्याख्याताने श्रोताओंसे प्रश्न पूछा कि कहिए वे लड़नेवाली लड़कियाँ किस उम्रकी रही होंगी? श्रोतागणने पाँच-छह बरसका अनुमान लगाया। कोई-कोई दस-ग्यारह वरस तक भी गया। पर अँगरेजी मुहावरे टीन तक कोई न पहुँच पाया। (अँगरेजीमें थर्टीनसे नाईण्टीन तक टीन एज मानी गयी है। इससे कमको अण्डरटीन कहा जाता है।) श्रोताओंका उत्तर सुनकर व्याख्याता बोला कि अगर मैं यह कहूँ कि ये तीनों लड़कियाँ तीस-बत्तीस और चौंतीस वर्षकी उम्रवाली थीं, दो-दो तीन-तीन बच्चोंकी माँ हो चुकी थीं। तब इन लड़कियोंकी लड़ाईके बारेमें आपकी क्या राय होगी? यह सुन सभाकी सभा चिल्ला उठी—तब तो वह जरूर पिये हुए होंगी। या पगला गयी होंगी। यह उत्तर सुनते ही व्याख्याताने सारी सभाको यह कहकर फटकारा कि जब

आप बड़ी-बड़ी उमरवाले राम, रहीम, खुदा, अल्ला, अकाल एक ही ईश्वरके नामोंको लेकर आपसमें लठबाज़ी करते हैं तो आपको क्या कहा जाये ? यह सुनकर सारी सभाकी साँस रुक गयी मानो सभी सभाको साँप सूँघ गया हो ।

यह भी एक शैली है। बड़ी ज़ोरदार शैली है। नेताके लिए बड़े कामकी है। वक़्तपर ख़ूब उपयोगी होती है।

तीसरा एक और ढंग है। 'स्वरमें स्वर मिलाकर बोलना।' इसके लिए समयकी सूझ निहायत ज़रूरी है। मान लीजिए सौ दो-सौका जन-समुदाय बाज़ार लूटने या आग लगानेकी तैयारीसे आगे बढ़ रहा है। उसको अगर नैतिक व्याख्यान-द्वारा रोका जाये तो वह रुकनेकी जगह और ज़्यादा भड़क उठेगा; तिगुना-चौगुना नुक़सान कर डालेगा। उस भीड़पर क़ाबू पानेके लिए पहले उसके स्वरमें स्वर मिलाकर बोलना होगा, लूटने और आग लगानेका समर्थन करना होगा। और विश्वास प्राप्त कर उस भीड़का नेतृत्व प्राप्त करना होगा। नेता बन जानेके बाद भीड़को किस ओर ले जाना है यह आपके हाथमें आ जायेगा। फिर न लूट हो सकेगी और न आग लग सकेगी। इसी सिलसिलेमें हमारी अपनी सुनिए :

चालीस-बयालीस बरस पुरानी बात है। मेरठके पास किसी एक क़स्बेमें एक बरात गयी हुई थी। उसमें हम भी बराती थे। घरातियों-ने किसी बराती बुड्ढेपर रंग छिड़क दिया। वह बिगड़ उठा। मण्डपके नीचे ही खड़े होकर उसने घराती-बराती दोनोंको गन्दी गालियाँ देना शुरू की। यह तो दोनों दल सह गये, पर जब उस बूढ़ेने मण्डपकी सजावट-को तोड़-तोड़कर फेंकना शुरू किया तब घराती-बराती दोनों घबरा उठे। दो-चार समझदार दौड़े-दौड़े हमारे पास आये।

हमारी उन दिनों समाजमें एक जगह थी। हमसे यह आशा की जाती थी कि हम बूढ़ेको ज़रूर मना लेंगे। हमें भी अपने ऊपर विश्वास था। इसलिए हमने उन समझदारोंकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। मण्डपमें जा

पहुँचे और जवानीकी आवाज़में हम भी घराती-बराती दोनोंको गालियाँ देने लगे। हमारी गालियाँ गन्दी न थीं। ऐसी ही थीं, जैसे—नालायक़, पाजी इत्यादि। उन गालियोंको तहमें न क्रोध था, न घृणा। वहाँ तो उलटी क्षमा थी और थी विशुद्ध प्रीत। चेहरेपर हँसी भी थी, जिसे बराती देखकर मुसकरा रहे थे।

बूढ़ेको जवान साथी मिल गया। बूढ़ेकी आवाज़ जवान आवाज़से दब गयी। और धीरे-धीरे धीमी होते-होते एक-दम चुप हो गयी। हम शोर मचाकर ही नहीं रह गये, तोड़-फोड़में भी बूढ़ेका हाथ बटाने लगे। यह ज़रूर था कि हमने फूटे हुए घड़ेको ही और फोड़ा और फटी काग़ज़की झण्डियोंको ही टुकड़े-टुकड़े किये। उसका भी यह परिणाम हुआ कि बूढ़ेकी तोड़-फोड़ शरमा कर शान्त हो गयी। अब हम सारे सीनके मालिक थे और बूढ़ा था हमारा फ़र्माबरदार अनुयायी।

हम बूढ़ेको जनवासे ले गये और मेरठ लौट जानेकी तैयारी करने लगे। बूढ़ेने आधे मनसे हमारा साथ दिया। जब हम जनवासा छोड़ने लगे तो वह बहुत ढीला पड़ गया। और फ़र्लांग आधे फ़र्लांग जाते-ही-जाते वह पानी-पानी हो गया। अब उलटा हमारा ग़ुस्सा शान्त करने लगा। वह रुकनेके लिए राजी हो गया। उसने घराती-बराती दोनोंको माफ़ कर दिया। पर हम मन कर ही न दिये। बूढ़ेने आखिर हमें रो-धोकर मना ही लिया। और हम रूठे ही कहाँ थे?

चौथा ढंग और भी है पर उसका प्रयोग हम ठीक नहीं समझते। वह है धर्मकी दुहाई देकर जन-साधारणमें जागृति उत्पन्न करना। यह ढंग सफल तो जल्दी होता है, पर इसकी प्रतिक्रिया बहुत बेढंगी और दुःखदायी सिद्ध होती है। इसलिए इस ढंगसे जहाँतक बने बचना चाहिए। जिसने भी इस ढंगको इस्तेमाल किया, उसे पछताना ही पड़ा। इसपर विस्तारसे लिखनेकी ज़रूरत नहीं। इससे सब परिचित हैं।

हास्यरस पूर्ण भाषणसे सारी सभा खिलखिला उठती है। इस तरहका

भाषण बड़े प्रेमसे घण्टों सुना जा सकता है। लेकिन असर बहुत कम रखता है। हास्यरसमें बोलनेके लिए बड़े ज्ञानकी आवश्यकता होती है। जो अपने विषयमें माहिर है वही इस विषयमें खिलवाड़ कर सकता है। हास्य-रससे हमारा मतलब हँसीसे भरी कहानियोंसे नहीं है। इस पद्धतिसे विषयको इस तरह रखना कि समझनेवाला हँसता जाये और तत्त्वको ग्रहण करता जाये। आत्म-तत्त्वपर एक व्याख्याताका व्याख्यान इस विषयको स्पष्ट करता है :

कौन कहता है कि आत्मा है। घड़ी एक मिनिटकी चाबीकी खुराक खाकर आम तौरसे चौबीस घण्टे और ज़रूरत पड़नेपर छत्तीस घण्टे चल सकती है। छत्तीस घण्टेके बाद भी वह मरती कहाँ है? बेहोश हो जाती है। आप चाहें तो यह भी कह सकते हैं समाधि लगा लेती है। वह समाधि कम लम्बी या लम्बी सभी तरहकी होती है। रेलके इंजिनको ले लीजिए। आग-पानी खाकर ऐसा दौड़ता है कि हिरण पीछे छूट जाते हैं। बल-वान् तो इतना होता है कि न हाथी उसके सामने खड़ा हो सकता है, और न शेर ही उसका मुक़ाबला करनेकी हिम्मत कर सकता है। इसे भी छोड़िए। ग्रामोफ़ोनको लीजिए। वह तो मुरदोंमें जान डाल देता है। गान्धीजीको सुन लीजिए। किसीकी भी वाणीको सुन लीजिए। पर अगर आप घड़ीको गालियाँ देने लगें तो क्या वह बुरा मानेगी? अगर आप इंजिनसे यह कहें कि देख बे इंजिन! तूने आज एक बकरी कुचल डाली है तेरी लाठियोंसे खबर ली जायेगी, पीटते-पीटते तेरी चिमनी तोड़ डाली जायेगी, तुझे लाल फाटककी हवा खिलायी जायेगी तो वह क्या उत्तरमें कुछ बोलेगा? अपने स्वभावके अनुसार कुछ फक-फक करता रहेगा। ज़रा शान्त हुआ तो सू-सू-करता रहेगा। इसी तरह आप ग्रामोफ़ोनके तवेपर बिगड़िए। अजी साहब, उसे तोड़ डालिए। पर वह न रोयेगा, न रूठेगा, न नाराज़ होगा और न किसीसे शिकायत करेगा। क्या घड़ी अपने-जैसे बच्चे छोड़ जा सकती है? क्या इंजिन और इंजिनीको कभी बच्चे देते

सुना है ? क्या ग्रामोफ़ोनके बीज आपके हाथ लगे हैं ? क्या आपने उन्हें बोकर ग्रामोफ़ोनके पेड़में ग्रामोफ़ोनके तवे या रिकॉर्ड लगते देखे हैं ? क्या आपने घड़ी, इंजिन और ग्रामोफ़ोनके रिकॉर्डोंका बचपन देखा है ? अगर नहीं तो क्या आप अब भी यह मानते रहेंगे कि आत्मा कुछ भी नहीं है।

यह है, हास्यरसपूर्ण विवेचन ! कितना शिक्षाप्रद ! कितना गहरा असर करनेवाला ! कितना अपनेको अपनेपर विश्वास करा देनेवाला !

आप सुकरातका लिखा 'प्लैटोकी रिपब्लिक' किताब पढ़ जायें तो आपको प्रश्नोत्तरी ढंगकी भाषण-कलाका भी ज्ञान हो सकता है। यह ढंग बहुत ही सुन्दर होता है। शालाके अध्यापकोंको इस प्रकार बोलनेकी कला सध जाये तो हमारे बालकोंको बहुत लाभ हो सकता है। इस शैलीमें व्याख्याता बहुत कम बोलता है। वह तो श्रोताको ही व्याख्याता बना देता है। वह जो कुछ कहना चाहता है, श्रोतासे कहलवा लेता है। वह अगर यह चाहेगा कि सरकार नहीं होनी चाहिए, तो वह यह खुद कभी नहीं कहेगा। वह आपसे पूछेगा, क्या आप यह पसन्द करते हैं कि आपकी देखभालके लिए एक आदमी आपके ऊपर नियुक्त किया जाये ? बहरहाल आप यही जवाब देंगे मैं बैठे-बैठाये किसीका दास क्यों बनने लगा। वह फिर पूछेगा क्या आप यह पसन्द करेंगे कि आपके घरकी देखरेख और आपकी निगरानी आपका पड़ोसी किया करे। इसके जवाबमें आप शायद बिगड़कर यह कह बैठेंगे क्या मुझे कुत्तेने काटा है। इसी तरह प्रश्न करते-करते वह आपसे पूछ बैठेगा कि क्या आपका नगर या देश यह पसन्द करेगा कि उसकी मरज़ीके बिना कोई उसपर सवार हो जाये, अपने-आपको राजा मान बैठे, आपसे टैक्स वसूल करने लगे और अगर आप देनेमें चीं-चपड़ करें तो डण्डेके बल आपसे टैक्स वसूल करने लगे। इस प्रश्नके उत्तरमें आपके मुँहसे यही निकलेगा कि हम यह हरगिज़ बरदाश्त नहीं कर सकते। हम ऐसे राजाको गद्दीपर ही न जमने देंगे। और अगर किसीने ऐसा प्रयत्न किया तो उसे हम यमके हवाले कर देंगे। यह है तो सुकराती

शैलीका भद्दा नमूना फिर भी 'मुश्ते अज़ खरवारे' यानी ढेरमें-से मुट्ठी-भर या स्थाली पुलाक यानी हँडियामें-से एक चावलके न्यायसे यह शैली हृदयस्थ हो सकती है। कुछ दिनोंके अभ्याससे इस शैलीमें बोलनेकी कला सध सकती है। इसके साथ ही यह याद रखनेकी बात है कि शुकरातको इसी शैलीमें बोलनेका इनाम मिला था—जहरका प्याला।

सातवाँ ढंग पद्यात्मक ढंग हो सकता है। यह हरेकके बूतेका नहीं है अपढ़ लोग खंजरी बजाकर डफ थपथपाकर और गा-गाकर जो काम कर लेते हैं, वह बड़े-बड़े व्याख्याता नहीं कर पाते।

शैलियोंके सृजक

शैलियाँ और भी गिनायी जा सकती हैं। इन्हें समझ-भर लेना काफ़ी है। असलमें तो काम आयेगी वही शैली, जो वक्ताकी अपनी है। बोलने-वालेकी शैली इन शैलियोंसे रस ग्रहण कर सकती है, प्रेरणा पा सकती है और उत्साह हासिल कर सकती है। बोलनेकी कलापर जितना लिखा जाये उतना थोड़ा, जितना पढ़ा जाये उतना थोड़ा। यह थोड़ा भी बहुत सिद्ध हो सकता है, अगर बोलनेवालेके दिलमें देशवासियोंके लिए वह प्यार मौजूद हो जो गायमें बछड़ेके लिए होता है। गायके बछड़ेको संस्कृतमें वत्स कहते हैं। उसीसे शब्द बना है वात्सल्य। वात्सल्यके माने हैं—प्रेम, अँगरेज़ीमें उसे आप फिलियल लव् कह सकते हैं। वात्सल्यमें वह बल है जो आदमीकी वाचा शक्तिको पैना बना देती है। समयकी सूझके साथ मिलकर वाचनिक शक्ति कब किस रूपमें प्रस्फुटित होगी, इसे पहले-से कौन बता सकता है? मूल बात यह है कि इन शैलियोंसे कोई वक्ता नहीं बनता। ये शैलियाँ नेताको जन्म नहीं देतीं। वह तो नेता ही है, जो इन शैलियोंको जन्म देता है। यह हम और आप हैं, जो इन शैलियों-का नामकरण करते हैं। व्याकरण पढ़नेकी चीज़ हो सकती है, भाषा सीखनेकी नहीं। इसी तरह बोलनेकी शैली पढ़नेकी चीज़ हो सकती है,

बोलनेकी कला सिखानेकी नहीं। और नेता बनानेकी तो कैसे भी नहीं। जैसे—तैरनेपर ग्रन्थ पढ़कर तैरना नहीं आता है, तैरनेसे ही तैरना आता है, वैसे ही बोलनेकी कलापर ग्रन्थ पढ़ जानेसे बोलना नहीं आता, बोलना तो बोलने और बोलते रहनेसे ही आता है। नेताको बोलना ही पड़ता है इसलिए उसे बोलना आ जाता है।

क्रान्तिका अर्थ

बोलनेकी कलाके बलपर नेताकी सब जगह पहुँच होती है। उसे ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, मर्द-औरत, बच्चे-बूढ़े सभीसे मिलना होता है। इस कारण उसमें समत्व गुण जाग जाता है। लोक-संग्रहमें समता बड़े कामकी चीज है। क्रान्तिका अर्थ ही है—समत्व प्राप्ति। असमता और अव्यवस्था एकार्थवाची हैं। जहाँ असमता है, वहीं दुःख है। दुःखी समाजमें असमता-को दूर करनेके लिए क्रान्ति होती है। क्रान्तिके अग्रदूत नेता होते हैं। नेताका जन्म ही असमता मिटाकर समता स्थापित करनेके लिए होता है।

●

समता

अधर्म, धर्मसे ग्लानि, विषमता सब एकार्थवाची हैं। शारीरिक धर्मपद बहुत रिवाज़में है। लेकिन शारीरिक अधर्म बिलकुल रिवाजमें नहीं है। इसकी जगह शब्द है रोग। इसी तरह रिश्वत, कालाबाज़ारी आदि इसी तरहके खोटे कर्म हैं व्यावहारिक अधर्म, सामाजिक अधर्म। धर्म और कर्तव्य एकार्थवाची शब्द हैं। जब-जब समाजके सदस्य कर्तव्य-विमुख होते हैं, तब-तब वे अधर्ममें संलग्न होते हैं। इसी अवस्थाका नाम है धर्मकी ग्लानि। थोड़े शब्दोंमें विषमता ही अधर्म है। विषमता मिटानेके लिए ही ईश्वरावतारकी बात कही गयी है। अवतारी पुरुष नेता होकर ही अपना काम करते हैं।

अवतारकी बात आदमीकी कल्पना है। सचाईका इससे कोई सम्बन्ध नहीं। पर हिन्दुओंमें यह इतनी जगह कर गयी है कि वह छठी अँगुलीका रूप ले बैठी है। इसलिए उसपर कुछ लिखना बेकार है। आगे जो हम लिखने जा रहे हैं उससे अवतार-वादका समर्थन नहीं होगा। उस वादको ठेस ही पहुँचेगी। क्योंकि अगर ईश्वर नामकी कोई चीज है तो अवतार लेकर वह अपने ही में विषमता पैदा करता है। वैषम्यसे साम्यकी आशा कैसे रखी जा सकती है?

नेता जब विषमता दूर करनेके लिए ही जन्म लेता है, तो उसमें कितनी समता होनी चाहिए, पाठक इसका अनुमान लगा सकते हैं। बच्चा-बच्चा जानता है कि पासंगवाली तराज़ू ठीक-ठीक नहीं तोल सकती। सरकारने बाट और तराज़ूकी जाँचका विभाग खोल रखा है,

पर नेताकी विषमताके लिए जनता-जनार्दनने न कोई कसौटी बना रखी है, न विभाग खोल रखा है। इसीका यह परिणाम हुआ है कि नेता आते तो हैं समाजमें साम्य लानेके लिए और पैदा कर जाते हैं महान् विषमता।

सारा संसार विषमताप्रिय है। जिस तरह सचाई और अहिंसाके गीत गाये जाते हैं, पर काममें लाया जाता है झूठ और लाठी; वैसे ही समता समत्व, समत्वयोग, बराबरी इत्यादिके गीत गाये जाते हैं और काममें आ रही होती है विषमता।

हमें जापानका राजा और बर्तानियाकी रानी बुरी नहीं लगती। वहाँ राजा और रानीके होते हुए भी लोकशाही खासी फल-फूल रही है। हुल्लड़ मचानेवाले विद्यार्थी सरकारकी गोलीके कम ही शिकार होते हैं। पर वे राजा-रानीका भारत लोकशाही स्थापित नहीं कर सका, नहीं कर सका, न सही, वह तो उसे पनपने भी नहीं दे रहा। जिस रिपब्लिकका भारत ढोल पीट रहा है, उसकी तुलना वह अमेरिका और फ्रांससे करता है। पर उसका विधान दोनोंके विधानमें-से किसीसे भी मेल नहीं खाता। मेल खायेगा भी नहीं। उसकी घुट्टीमें पड़ा हुआ पार्लियामेण्टरी विधान। और रिपब्लिक है उसकी उड़ान। इसलिए उसकी अवस्था त्रिशंकु-जैसी है।

हम न फ्रांस गये हैं न अमेरिका। हम अगर भारतका पैसा खराब करके पाँच-सात दिन या महीने-दो महीने उन देशोंमें रह आते, तब भी हम अपनेको उनके विधानपर बोलनेके लिए इतना ही अधिकारी समझते, जितना अभी समझ रहे हैं। हमने उनके विधानोंको किताबोंसे पढ़ा है, वहाँका हाल पत्र-पत्रकारोंसे सुना है और रेडियोपर-से कर्णगोचर किया है। उस पढ़ने-सुननेके आधारपर हमें यह मालूम है कि किस तरह फ्रांसकी पंचायतोंमें आये दिन मुक्केबाज़ी होती है और किस तरह अमेरिकामें काले गोरोंकी भिड़न्त हो जाती है। इसीलिए हम यह कहनेकी हिम्मत कर सकते हैं कि जिसे लोकशाही कहा जाता है वह न फ्रांसमें है न अमेरिका-

में। दुनियाके किसी भी देशमें नहीं है। कारण ? दुनिया विषमता-पसन्द है। आप चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि अवतारों, रसूलों और पैगम्बरों-ऋषियों, मुनियों इन सबने दुनियाको विषमता-पसन्द बना दिया।

दुनियामें ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, उतने ही गहरे समुद्र भी हैं, पर हिमालयकी ऊँचाईकी अगर महत्ता है तो हिन्द महासागरकी गहराई और लम्बाई-चौड़ाईकी भी उतनी ही महत्ता है। आदमीकी आँखको दिखाई देनेवाली प्राकृतिक विषमतामें एक साम्य मौजूद है, पर आदमीके पैदा किये हुए थानेदार और चौकीदारमें इतनी विषमता है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। राष्ट्रपति और चौकीदारकी विषमता देखकर तो हमें बेहोश हो जाना चाहिए था, हमारा दम निकल जाना चाहिए था। पर हम तो उलटे खिल उठते हैं जिस समय चौकीदार, अजी नहीं ! पुलिसका इन्सपेक्टर राष्ट्रपतिके पैर छूनेके लिए अपने हाथ लम्बे करता है। क्या उस समय हम समताको कुचलकर विषमताके पेड़की खाद नहीं बना रहे होते ?

इस विषम संसारमें हम सिरसे पैर तक विषमतामें डूबे हुए हैं। हमारे नीति ग्रन्थ भी क्या इसी विषमताका समर्थन नहीं करते हैं ? तब इस विषमताकी कीचड़से समत्व कैसे निकल पाये ? बुखार बुरी चीज है, शीतमें डूबेको बुखार लानेकी दवा दी जाती है। पर अगर कोई बुखार-वालेको बुखारकी दवा दे बैठे, तब क्या नतीजा होगा ? तब यह होगा कि यम महाराजको अपना आसन छोड़ उसे लेनेके लिए आना होगा। ठीक इसी तरह विषमतामें फँसे समाजके लिए भी कभी-कभी विषमताका प्रयोग करना पड़ता है।

समत्वकी दुर्लभता

इस दुनियामें यह कैसी कठिनाई है कि जिसे हम विजय समझे हुए हैं, वह बहुत कम सत्यकी देन होती है। या यों कहिए कि होती ही नहीं

है। विजय सदा चालाकी या झूठका परिणाम हुआ करती है। उसका लालच त्यागना बड़ा कठिन है। जो समत्वको किसी भी शर्तपर नहीं खोना चाहता, उसके लिए दुनियामें फाँसी, शूली और गोली ही है। और फिर पीछे फाँसी, शूली, गोलीके नामपर चलता है, क्या उसे समत्व नाम दिया जा सकता है? वह होती है घोर विषमता। इतिहासके पन्ने तो इससे भरे मिलेंगे ही, हमारा अपना युग भी चिल्ला-चिल्लाकर इसकी गवाही दे रहा है।

बुद्धका मध्यम मार्ग समत्वको ही लेकर चला। पर वह कहाँ टिक सका। हिन्दुस्तानमें तो वह ढूँढ़नेसे ही मिलता है। जो मिलता है वह रिवाजी बुद्धधर्म है। उसे मध्यम मार्गसे क्या लेना-देना। ब्रह्मदेश, स्याम, जापान, चीन और लंकापर वह छाया हुआ है। पर वहाँपर भी वह नामके लिए ही मध्यम मार्ग है। इसके अतिरिक्त बुद्ध धर्म स्वयं कई सम्प्रदायोंमें बँट चुका है। हीनयान और महायान नामकी दो शाखाएँ तो बुद्धके महाप्रयाणके कुछ ही दिनों बाद फूट निकली थीं। आज कितनी शाखाएँ हैं इनको कौन जाने। अस्तु! ये सब कहकर हम यह कहना चाहते हैं कि समत्व या साम्यधर्म निभाना बहुत कठिन है। पर नेता इस धर्मको निभाये बिना न अपना भला कर सकता है न समाजका।

योगान्त?

सब धर्मोंका निचोड़ ही अपनेमें साम्य पैदा करना है। योगका भी यही लक्ष्य है, फिर चाहे वह हठयोग हो, भक्तियोग हो या ज्ञानयोग हो। यह कैसी अनोखी बात है कि हठयोग साम्य चाहता है और उसका अन्त होगा घोर विषमतामें। घण्टोंमें पद्मासन लगाये बैठे हैं, घण्टों शीर्षासनमें उलटे खड़े हैं, आसनोंके स्कूल खोले फिरते हैं। जिस हठयोग-की मंशा थी रोगको दूर करना वह ख़ुद रोग बन बैठता है। यही हाल भक्तियोगका है। जिसकी मंशा थी घड़ी-आधी घड़ी भगवान्‌की मूरत्‌के

सामने बैठकर अपने जीको हलका करना। वही योग आठों पहर सिर-पर सवार रहने लगा। यह मनुष्य लौकिक प्रेमको परमात्मासे जोड़ बैठा और दिन और रात वियोगमें आँखोंसे सावन-भादोंका रंग दिखाने लगा। ऐसे महावैषम्यमें डूबी मीरा आज सैकड़ों हज़ारों नर-नारियोंके गलेका हार बनी हुई है! भक्तियोगकी विषमता इतनी मनमोहक सिद्ध हुई है कि उसके रंगमें डूबकर मोहम्मद साहबकी शानमें जो नातर (स्तोत्र) और कव्वाली गायी जाती है और उनमें जो भाव रहते हैं वे इस्लाम धर्मके बिलकुल विपरीत होते हैं, कव्वालोंने जिन्नतको जो रूप दिया है और खुदाका जो नक़्शा खींचा है और खुदा और मोहम्मद साहबके बीचमें जो रिश्ता क़ायम किया है वह सब वह है जो किसी समझदारके गले नहीं उतर सकता, पर बड़े-बड़े समझदार कव्वालीकी मजलिसमें असली-असली या नक़ली वज्दमें आये बिना नहीं रह सकते!

यही हाल ज्ञानियोंका है। ज्ञानयोग ऐसी चीज़ थी जिससे यह आशा की जा सकती थी कि वह ज्ञानियोंको किसी एक ओर न खींचने देगा। पर ज्ञानने ज्ञानयोगियोंको ऐसा पकड़ा कि बरसोंके लिए नहीं जनम-भरके लिए एक गाँवके एक मकानके एक कमरेमें बन्द कर दिया—या पत्थरकी मूरतकी तरह पहाड़की एक गुफामें ले जाकर धर दिया। ज्ञानयोगी योगिराजके नामसे पुकारे जाने लगे। जिस राजपदको वे महाराज छोड़कर भागे थे, वह उन्हींपर सवार हो बैठा। अब कहिए साम्य किस कोनेमें जाकर अपने पाँव जमाये?

आज जब हम ये पक्तियाँ लिख रहे हैं उन्नीस सौ साठकी सत्ताईस अगस्त है। कल रात ही हमने रेडियोपर सुना कि इटली देशके रोमनगर-में होनेवाले ओलम्पिक खेलोंमें एक खिलाड़ीकी मृत्यु हो गयी। किसी बीमारीसे नहीं, विषमताकी खींचकी बीमारीसे, सौ किलोमीटरकी बाई-सिकिलकी दौड़के कारण। रिकॉर्ड तोड़नेकी बीमारी सारे जगत्पर छायी हुई है। अगर हम यह कहें तो शायद भूल नहीं होगी कि इस घोर

विषमताकी जड़ है हमारा भारतवर्ष, हिन्दुस्तान, हिन्द या इण्डिया। जो समत्व धर्मके गुणगानमें भी विषमताकी सीमासे जा टकराता है।

यह हमारा सारे जहांसे अच्छा हिन्दुस्तान मूर्तिपूजाके खण्डन करनेवालेकी ही मूर्ति पूजता है। ईश्वरके खण्डन करनेवालेको ही ईश्वर मान बैठता है। पतिको मारकर उसकी चितापर बैठकर जान दे देनेवाली सती नामधारी रानियां इसी देशमें मिल सकती हैं। सन्त-महन्तोंको मारकर उनके नामपर मन्दिर खड़े कर उनकी मूरतकी पूजा करनेवाले ब्राह्मण इसी देशमें मिलते हैं। राजाओंको गद्दीसे उतारकर राजा पदवीका नाम मिटाकर दूसरे नामसे उनकी गद्दी लेकर पूजनेवाले या अपना मतलब सिद्ध करनेके लिए राजाओंकी यादगार खड़ी करनेवाले राजा-रानियोंकी मूरत स्थापित करनेवाले राजपूत क्षत्रिय इसी देशमें पाये जाते हैं। शूद्र सन्तोंको ऊँचा स्थान देनेवाले, उनके भजनोंको मस्त होकर गानेवाले पर शूद्रोंको अछूत समझते रहनेवाले बनिये ब्राह्मण इसी देशमें फलते-फूलते हैं। विषमताकी खादसे और उग ही क्या सकता है?

कुछ नहीं : सब कुछ

हम इससे इनकार नहीं करते कि नदी और समुद्रके किनारे होते हैं, इससे भी इनकार नहीं करते कि नदी और समुद्रके बीचमें बहुत गहराई रहती है और किनारोंपर बहुत थोड़ी। हमें तो इनकार इससे है कि किनारोंको बेहद महत्त्व देना और बीचकी ओरसे बिलकुल बेपरवाह हो जाना। यह ठीक है कि किनारे दो होते हैं। तालाबके चार माने जा सकते हैं। गोल चीजका एक ही किनारा हो सकता है, पर बीच सदा एक ही होता है। वह गिनतीमें भले ही एक हो, पर उसकी महानता तो किनारेके इतने पास तक पहुँचती है कि किनारेकी चौड़ाईको ही नष्ट कर देती है। उसमें केवल लम्बाई रह जाती है। अगर वह दो किनारोंवाली चीज है जैसे धागेका टुकड़ा, तब तो दो किनारे नाममात्रके लिए

रह जाते क्योंकि लम्बाई रखनेवाली रेखाका अन्त दो बिन्दुओंमें हुआ करता है। रेखागणित बिन्दुकी यह परिभाषा करती है—बिन्दु वह जो है, पर न उसमें लम्बाई होती है न चौड़ाई न मोटाई। अब इस न कुछकी ओर बढ़े जाना कहाँकी बुद्धिमानी है। इस न कुछकी हदसे ज़्यादा पूजा कर बैठना कहाँकी समझदारी है। दुनियाकी यह अवस्था देखकर भी नेताको निराश होनेकी ज़रूरत नहीं है। वह निराश होता भी नहीं है। जब इस जगत्में मध्य मौजूद है और मध्यका ही पसारा पसरा हुआ है, तब उसकी नजर कुछको छोड़कर न कुछपर क्यों जाने लगी। कुछ नहीं, वह तो सब कुछ है।

इन्साफ़ शब्द अरबीका शब्द है। यह बना है निस्फ़से। निस्फ़को सब जानते हैं। उसका अर्थ होता है आधा। अब इन्साफ़के माने हो गया, आधा-आधा कर देना, यानी ठीक-ठीक तौल देना। इसी आधारपर तराज़ू न्यायका प्रतीक मानी जाती है। हाईकोर्टों और सुप्रीम कोर्टोंके मुख्य द्वार या मुख्य भित्तिपर तराज़ूका चित्र बना रहता है। क्या ये सब समत्वके महत्त्वका द्योतक नहीं हैं? साम्यवाद होना तो चाहिए था सहर्ष स्वागतकी चीज़, पर बना हुआ है—भयका हव्वा। उसके साथका यह व्यवहार वैषम्यपूर्ण इस दुनियाके योग्य ही है।

जो नेतृत्वके मैदानमें कूदा है, वह विषमताकी परवाह नहीं करता। वह तो तराज़ूको बीचसे थामता है और समत्वकी स्थापना करता है। नेताकी नज़र विशुद्ध होती है। उसकी आँखपर वर्ण धर्मकी ऐनक नहीं होती। वर्णोंको वह समाजके भिन्न-भिन्न अंग मानता है। इससे ज़्यादा कुछ नहीं। आश्रम धर्मकी भी ऐनक उसको नहीं लगती। चारों आश्रमों-को वह समान आदर देता है। क्योंकि वे मनुष्य नामी एक ही जीवनके चार भाग हैं। वह वर्गोंको स्वीकार करता है। पर एक वर्गकी महत्ता दूसरे वर्गपर क़ायम नहीं करता। उसके लिए पूँजीपति खजांचीसे बढ़कर नहीं और मज़दूर पूँजीपतिसे कम नहीं होता। उसकी नज़रका असर

पूँजीपतिपर भी पड़ता है और मजदूरपर भी। किसीने क्या ठीक कहा है, "तेरा दुशाला मोलमें भारी तो मेरा कम्बल तोलमें भारी।" और फिर कम्बल और दुशाला दोनों ही तो भेड़की पशम हैं। एक कच्ची एक जरा पक्की। ये सब सच्चाइयाँ नेताकी आँखमें समायी रहती हैं। इसलिए जगत्‌की सारी विषमता उसके सामने अपना वैषम्य खो बैठती हैं। तभी तो नेतासे बच्चे ऐसे ही मिल लेते हैं जैसे बूढ़े, औरतें ऐसे ही मिल लेती हैं जैसे मर्द। नीचसे नीच ऐसे ही मिल लेता है जैसे ऊँचसे ऊँच, रंक ऐसे ही मिल लेता है जैसे राजा। आप चाहें तो यह कह सकते हैं कि अगर दुनिया नाटकका मंच है तो नेताकी कुटिया (भवन ?) नाटक मण्डलीका परिवार भवन। नेताके भवनमें सारी नाटक मण्डली नक़ली जामें फेंककर असली जामेमें एक-दूसरेसे हिलमिल-कर बैठ लेती है, या बैठती है, आरामकी साँस लेती है और चैनकी बंसी बजाती है।

साम्यकी महिमा

देखनेमें नेताका काम बड़ा कठिन मालूम होता है। पर क्या तुमने कभी दस-बारह बच्चोंकी माँको देखा है—और ऐसी माँ जिसको नौकर नसीब नहीं। तुम उसके कामको देखकर घबरा सकते हो। तुम्हारी गणित विद्या उसके कामके हिसाब लगानेमें फेल हो जायेगी। दुःख-सुखके नापने-की तुम्हारी तराजू अपनी डण्डी तोड़ बैठेगी। धर्म कर्मकी तुम्हारी पोथी उसके आगे बग़लें झाँकने लगेगी। सन्त-महन्तोंके हाथके तोते उड़ जायेंगे और उस भरे-पूरे घरकी मालकिन माँको ठीक-ठीक न पढ़ पा सकेंगे। यह सब किस बातकी करामात है? यही कि वह अपने काममें साम्यको नहीं खोती। विज्ञानकी इस सचाईको याद रखो। तुम सिरपर दस-बीस सेर बोझ रखकर दबे-दबे-से अनुभव करते हो। पर उससे दुगुने-तिगुनेको पीठपर लादकर चल सकते हो। और उससे कई गुणे बोझको बहँगीकी

सहायतासे कन्धोंपर लादकर मीलों चल सकते हो। आर्कमीड्स विज्ञानी (आप चाहें तो उसे अर्चमोदास कह सकते हैं।) ने इस बातको यों कहा—"इफ़ आइ हैड हैड ए फ़ल्क्रम लांग इनफ़ एण्ड इफ़ आइ हैड एप्लेस टु स्टैण्ड अपॉन, आइ वुड हैव लिफ़्टेड दी वर्ल्ड अप"। यानी अगर मेरे पास काफ़ी लम्बा दण्डा होता। ओह! खड़े होनेकी जगह मिल जाती तो मैं धरतीके गोलेको उठा लेता! यह है समत्वकी महिमा।

नेता समत्वमें रंगा होता है। तभी तो सब उसकी ओर खिचते हैं। वह सबको उसी तरह प्यार करता है, जैसे चौदह बच्चोंकी माँ अपने हरेक बच्चेसे प्यार करती है। न वह माँ थकती है, न बच्चे थकते हैं। हम सब विषमताकी ऐनक लगाकर उस दृश्यको देखनेवाले ही थकान अनुभव करते हैं। काम नेता कर रहा होता है, थक हम रहे होते हैं। जाग वह रहा होता है आँखें हमारी लाल हो रही होती हैं। वह अपना लुटा रहा होता है, हमें मालूम होता है हम लुट रहे हैं। वह हर तरह हम ही जैसा होता है। फिर हम विश्वास करें तो कैसे करें कि वह करता है और थकता नहीं। नेता जागता है, पर आँखें उसकी नहीं दुखतीं। वह बोलता है पर मुँह उसका नहीं थकता।

हम उन दो तारोंमें भी तो भेद नहीं कर पाते, जिनमें-से एकमें बिजलीकी धार बह रही होती है और दूसरोंमें कुछ नहीं। बस नेता ऐसा तार है, जिसमें श्रद्धा और प्यारकी धार बहती है। जो अपने साम्यको नहीं बिगड़ने देता। उसमें क्रोध भी है, क्षमा भी है, पर दोनोंके समान होनेसे न उसे क्रोध आता है, न प्यारसे विह्वल हो उठता है। उसमें कंजूसी और उदारता दोनों निवास करती हैं, पर दोनोंका वजन समान रहता है, इसीलिए वह न कुल खर्च हो पाता है न कम खर्च। वह खुश खर्च बना रहता है। उसमें घमण्ड भी है, दीनता भी है। पर उसके दोनों पलड़े एकतलमें रहते हैं। इसलिए न वह अभिमानी बन पाता है न तुच्छ। उसमें राग भी है और द्वेष भी। पर उसकी मोहकी तराजूकी

डण्डी किसी तरफ़ भी ज़रा नहीं झुक पाती। इसलिए मोह प्रेममें बदल जाता है।

थकान क्यों?

प्रेम आत्माका स्वभाव है। राग और द्वेष उसके विभाव हैं। जो वीतराग है, वह वीतद्वेष भी है। कोई भी व्यक्ति वीतप्रेम न हो सकता है, न होता है, न किसीके होनेकी कल्पना ही की जा सकती है। जैसे वीतज्ञान होना जड़ होना है, वैसे ही वीतप्रेम होना जड़ होना है। आत्मा अपना स्वभाव कैसे छोड़ सकता है। यह विज्ञान सिद्ध बात है कि आत्मा थकता नहीं। यही हाल जड़का है। यह किसे नहीं मालूम है कि वातशून्य स्थानमें अगर किसी पदार्थको गति दे दी जाये तो वह हमेशा गतिशील बना रहेगा यानी हमेशा चलता रहेगा। यह तो रगड़ है जो पदार्थको रोकती है। ठीक इसी तरह यह क्रोध, मान, माया, लोभकी रगड है, जो आत्मा और देहसे बने मनुष्यको थकाती है। यह रगड़ जितनी कम होगी, उतनी ही थकान कम होगी। नेताको इन तत्त्वोंका ज्ञान सहज होता है। इसलिए वह थकानका अनुभव नहीं करता।

यही वत्सलता नेताकी थकान हरती रहती है। और जिस तरह बिजलीकी धार तारको हानि न पहुँचाते हुए तारको कामका साधनमात्र बना रहने देती है, वैसे ही सत्य श्रद्धा वत्सलताका रूप लेकर नेताको स्वस्थ बनाये रखती है और कार्यका साधनमात्र बना रहने देती है। कारण भी बना रहने देती है पर निमित्त, उपादान नहीं।

समाधानकी सड़क

समत्वके बारेमें आपका मन अनेक शंकाएँ खड़ी कर रहा होगा। आप अब शंकाओंका समाधान न ढूँढ़कर अपने काममें लगिए। काम ख़ुद आपका समाधान कर देगा। यह विषय ही ऐसा है जो सुनने-समझनेसे पूरा-पूरा समझमें नहीं आता। जिसे हम असम्भव समझते हैं वह करनेपर

सम्भव हो बैठता है। कुहासेमें राह कहाँ दिखलाई देती है? मालूम ऐसा होता है कि चार क़दमके बाद दुनिया ही नहीं है, पर जैसे ही चार क़दम आगे बढ़ते हैं कि दुनिया बढ़ती चली जाती है। ठीक इसी तरह काममें लगनेके बाद आगेका रास्ता दिखाई देने लगता है और असम्भव सम्भव हो बैठता है, कठिन आसान हो जाता है, दुःखदायी, सुखदायी बन जाता है, थकानेवाला आरामदेह बन जाता है, इसलिए शंका समाधानके झगड़ेमें न पड़िए। अगर समाधान अत्यावश्यक है तो कर्म नामधारी व्यक्तिसे अपनी शंकाओंका समाधान कराइए। वह हमारी पुस्तक और हमसे भी बढ़कर सिद्ध होगा।

●

वात्सल्य

हम वात्सल्य शब्दका प्रयोग कर रहे हैं, वह सिर्फ इसलिए कि साहित्यमें इसने एक जगह बना रखी है। वास्तवमें हम जिस प्रेमकी बात लिखने जा रहे हैं, उसके लिए वात्सल्य शब्द बहुत छोटा पड़ता है। वात्सल्य मायने ऐसा प्रेम जैसा गाय अपने बछड़ेको करती है। गायका सारा प्रेम मोहजन्य होता है, मूर्खतापूर्ण होता है, उसमें पशुता रहती ही है और राग-द्वेषका मिश्रण भी रहता है। कोई गाय दूसरी गायके बछड़ेको अपने थनोंसे नहीं लगने देगी। डेरीफ़ॉर्म (दूधशाला) की गायें किसी भी बछड़ेको लगा लेती हैं, पर यह तो आदमीकी बुद्धिका फल है, गायकी वीतरागताका नहीं। पैदा होते ही अगर गायसे उसका बछड़ा अलग कर दिया जाय और गाय उसे सूँघने न पावे तो वह किसी भी बछड़ेको अपना बछड़ा समझने लगती है। इस सबमें गाय कहाँ चमकती है ? आदमीकी चालाकी चमकती है। वात्सल्यमें केवल एक ही चीज़ हमारे कामकी है, वह यह कि वात्सल्य साहित्यिक यानी प्राकृतिक होता है।

आत्म-गुण

नेताके लिए हम जिस वात्सल्यकी बात कह रहे हैं वह एकदम दूसरी चीज है। वह मोहजन्य नहीं होता, ज्ञानजन्य होता है। ज्ञानकी ही एक पर्याय होता है। पशुत्व तो उसमें रह ही नहीं सकता। मूर्खतासे उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। राग वह होता ही नहीं। इसलिए द्वेषकी कालिमा उसे छू नहीं पाती। वह सहज यानी स्वाभाविक ही होता है। नेताका वात्सल्य आत्माके गुणका ही एक नाम है।

वात्सल्य एक प्रकारका वह आकर्षण होता है, जो आत्मासे आत्माको होता है। देहसे देहके खिंचावका नाम राग है। वह द्वेषकी चाशनी लिये हुए होता है। अरबीका इश्क़ शब्द विशुद्ध प्रेमका ही द्योतक है। पर कवियोंकी कृपासे वह गन्दा कर दिया गया है। आशिक़ी, माशूक़ी-जैसे निर्मल शब्द गन्दे बन बैठे हैं। गालीकी तरह काममें लाये जाते हैं। यही हाल प्रेम और प्रीतिका हो गया है। संस्कृतमें जैसे राग और द्वेष हैं, वैसे ही फ़ारसीमें रग़बत और नफ़रत शब्द हैं। अँगरेज़ीमें ही लव शब्द पवित्र है। उसकी पवित्रता अस्सी प्रतिशत क़ायम है। बीस प्रतिशत वह भी गन्दा हो गया है। राग-द्वेषके लिए अँगरेज़ी शब्द है 'अटैचमेण्ट' और 'रिपल्शन'। ये दोनों साथ-साथ रहनेवाले गुण हैं। लव, इश्क़, प्रेम निर्द्वन्द्व शब्द हैं। इनका अगर कोई द्वन्द्व ढूँढ़ ही निकाले तो ये द्वन्द्वात्मक नहीं माने जा सकते। इस द्वन्द्वको हम विकार ही कहेंगे। विकृत प्रेमको प्रेम न कहकर राग ही कहना ठीक रहेगा। यह हम साफ़ कह देना चाहते हैं कि जिस प्रेममें वियोगकी टीस होती है वह मोहजन्य प्रेम होता है। फिर चाहे वह नरसे हो या नरोत्तमसे हो। साकारसे हो या निराकारसे हो। वियोग या वियोगकी टीस प्रेममें होती ही नहीं। इस बातको एक आँखों देखी घटनासे अच्छी तरह समझा जा सकता है।

विशुद्ध-प्रेम

एक अपने मित्र थे। अँगरेज़ी राज्यमें लखनऊके सेक्रेटरियेटमें नौकर थे। सेक्रेटरी ही थे। थियोसोफ़िस्ट थे। उनकी सहधर्मिणी बीमार पड़ीं। उनके माता-पिता जीवित थे। यानी उनकी सहधर्मिणीके सास-श्वसुर। जिन दिनों-की यह बात है उन दिनों उनकी आयु पच्चीस-तीसके अन्दर रही होगी। सहधर्मिणीकी आयु बीस-बाईस रही होगी। उन दिनोंके गृहस्थ-जीवनके अनुसार माँके जीवित रहते कोई बेटा अपनी सहधर्मिणीकी बीमारीमें उसके पास नहीं फटक सकता था। ऐसा करना बेअदबी समझा जाता था। पर

हमारे कथानायकने इस बेअदबीकी तनिक भी परवाह नहीं की। आठ रोज लगातार अपनी औरतकी खाटकी पट्टी नहीं छोड़ी। खाया भी बहुत कम, नींद भी बहुत कम ली। नहानेके नामपर तो बदनपर केवल पानी डालना होता था। इस सात-आठ रोजकी तपस्याका फल हुआ सहधर्मिणी-की चिरनिद्रा। जब उसने लम्बी तानी तो ये उसकी पट्टी छोड़ गायब। सुहागिनकी लाशका शृंगार किया जाता है। पतिकी हाजिरी जरूरी होती है। पर ये ढूँढ़े न मिले। लाश रोकी नहीं जा सकती थी। उसका दाह कर्म करा दिया गया। चौबीस घण्टे जब हमारे कथानायकका पता न चला तो माता-पिता चिन्तित होने लगे। इष्ट-मित्र दूसरे बन्धु-बान्धव चिमेगोइयाँ करने लगे। कोई कहने लगा धूनी रमानेवाला साधु हो गया। कोई कहने लगा अपघात करके सह-धर्मिणीसे स्वर्गमें जा मिला। कोई कुछ और कोई कुछ कहता था। कथानायककी बहनको सूझी वह सीधी अपने भाईकी बैठकमें पहुँची। बैठकका दरवाजा अन्दरसे बन्द। वह घबरा गयी। घर-भरमें शोर मच गया। दरवाजेपर थापपर थाप पड़ने लगी। पुलिस-को खबर दी जानेकी बात सोची गयी कि अचानक दरवाजा खुला। हमारे कथानायक आँखोंमें नींद-भरे बोले, मुझे सो लेने दो। मैं आठ दिनका निंदासा हूँ। सबको तसल्ली हुई और वह पूरे आठ दिन खूब डटकर सोये। बीच-बीचमें उठते थे। नित्य कर्म करते थे, कुछ खाते भी थे, पर आँखोंके पपोटे वैसे ही भारी बने रहते थे। जैसे एक निंदासेके होते हैं। आँखें खुलती नहीं थीं, खोलनी पड़ती थीं। आठ रोजके बाद जब उनकी नींद पूरी हुई, तब दोस्तोंने उनसे पूछा कि यार तुम अपनी औरतको इतना तो प्यार करते थे कि सारे अदब-आदाबको लात मार दी, गार्हस्थ्य शिष्टाचारको धता बता दी, पर दाह कर्ममें शामिल न हुए। यह कैसा प्यार? हमारे कथानायक बोले, प्यार था मेरी आत्माको उसकी आत्मासे, जब वही न रही तो उसकी देहसे मुझे क्या लेना-देना।

यह है विशुद्ध प्रेमका उदाहरण। दुनियादारकी हैसियतसे सम्भव है

हमारे कथानायकमें भी कुछ मोह रहा हो। पर उसका दूर करना अशक्यानुष्ठान कोटिमें आता है। इसलिए उसका ज़िक्र करना बेकार है।

राग-मूल

वात्सल्यसे हमारा मतलब इसी तरहके प्रेमसे है। इस प्रेममें सारा समाज प्रविष्ट हो सकता है, जीवमात्र प्रवेश पा सकते हैं। राग तो अगर अपने बेटेसे है तो दूसरेके बेटेसे द्वेष हुए बिना न रहेगा। पत्नी जितनी ज़्यादा अपने पतिको प्रेम करेगी, उतनी ही ज्यादा उसे सन्देहकी दृष्टिसे देखेगी। वह तो यह भी नहीं चाहेगी कि वह अपनी बहनसे भी अलहदामें बात करे। यही हाल उस पतिका होता है जो अपनी पत्नीको बेहद प्रेम करता है। उसे अपनी औरतके सगे भाई तकपर सन्देह होने लगता है। हम यह बढ़ाकर नहीं लिख रहे। अपने जीवनका अनुभव लिख रहे हैं। नेता अगर इस तरहके दुनियावी प्रेमसे बच पाता है तो इसका एक ही कारण है कि वह त्याग और तपस्याकी चक्कीमें होकर निकल चुका होता है।

विशुद्ध प्रेमकी सूझ ही अलग होती है। उसके रास्तेमें न लाठी आती है, न धमकी। न नरका डर, न आतंकका खौफ़ और न ईश्वरके दण्डका खयाल! वह इन राग और मोहके हथियारोंसे काम ही नहीं लेता। एक कथा है:

एक आदमीके एक पुत्र था। पुत्र विवाहित था। पुत्रकी माँ जीवित थी। पर वह माँकी सुनता ही कब था? पर न जाने क्यों बापको बड़ी श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता था। यह कहना बेजा न होगा कि उसे ईश्वरमें इतनी निष्ठा न थी जितनी अपने बापमें। फिर भी उस लड़केमें एक छोड़ तीन-तीन ऐब थे। वह शराबी था, वेश्यागामी था और जुआरी था। बाप छातीपर पत्थर धर और आँखोंपर हथेलियाँ धर, कानोंमें डॉट लगाये सब सहन करता था और देखता-सुनता था। एक दिन बापका यमके यहाँसे बुलावा आ गया। बापने बेटेको बुलाया। बोला, बेटे अब हम तो

जा रहे हैं। क्या हम कुछ कहें तो मानोगे। बेटा चटाखसे बोला, पिताजी, देखिए अगर आप यह कहेंगे कि मैं शराब पीना छोड़ दूँ तो मैं आपके सामने कह भी दूँ तो भी मैं अपना वचन न निभा सकूँगा। आपसे क्या छिपाऊँ! मैं वेश्याके यहाँ जाता हूँ। मानता हूँ यह बुरा कर्म है। पर इस सम्बन्धमें दिया हुआ वचन भी मुझसे न निभ सकेगा। मैं जुआ खेलता हूँ यह घर-भर जानता है। सबसे ज्यादा आप जानते हैं। क्योंकि आपकी थैली आपको यह सब बताती रहती है। इस लतको भी मैं वचन देकर न छोड़ सकूँगा। इनके अलावा जो कुछ आप कहेंगे वह मैं मान लूँगा और सच्चे जीसे वचन निभाऊँगा।

उसके पिता बोले, नहीं, हमें इनको छोड़नेका वचन तुमसे नहीं लेना है। तुमसे ज्यादा हम तुमको जानते हैं। हम भी जवान रहे हैं और जवानीके ऐबोंमें होकर निकले हैं। हम यह पूछते हैं कि तुम शराबके कितने जाम पीते हो? बेटा बोला, यही कोई एक बोतल। बाप बोले, हम तुम्हें सलाह देंगे तुम सवा बोतल पिया करो। लेकिन केवल एक शर्त है—दिनके बारह बजे पिया करो, सुबह आठ बजे नहीं। बेटा मुसकराता हुआ बोला—पिताजी मंजूर। शब्दशः वचन निभाऊँगा।

पिताने पूछा—तुम वेश्याके यहाँ हफ़्तेमें कितने दिन जाते हो और किस वक़्त जाते हो? बेटा बोला, यही हफ़्तेमें दो बार ज़्यादासे ज़्यादा तीन बार और यही कोई रातके आठ बजे। बाप बोले, नहीं, हम तुम्हें रोज जानेकी छुट्टी देते हैं, पर रातके आठ बजे न जाया करो। रातके तीसरे पहरके बाद यानी तीन और चारके बीचमें जाया करो। बेटा हँसता हुआ बोला, बिलकुल मंजूर। यह वचन भी पूरा-पूरा निभाऊँगा।

बाप बोले, तुम कितने रुपयेसे जुआ खेलते हो? बेटा बोला, यही कोई पच्चीस-पचास रुपयेसे। बाप बोले, देखो, अब तो थैलीके मालिक हम नहीं रहेंगे। थैली तुम्हारी दासी बनेगी। इसलिए तुम्हें छुट्टी रहेगी। चाहे जितनेसे जुआ खेलो। हम मजबूर होकर नहीं, पर खुशीसे इजाजत

देते हैं कि तुम जूएमें चाहे जितना खर्च करो। और हम थैलीसे भी कहे जाते हैं वह तुम्हारा हाथ नहीं रोकेगी। पर शर्त एक है कि कल ही से वही-खातेमें जूएका खाता खोल दो। जो थैली तुम्हें दे वह जूएके नाम लिख दो। और जो थैलीमें लाकर डालो वह जूए खातेमें जमा कर लो। बेटा खिलखिलाकर हँस पड़ा और बोला, यह बात तो आपकी मेरे मनको बहुत अच्छी लगी। यह व्रत भी कभी भंग न होगा।

बाप चल बसे। बेटेने बापका शोक मनाया। आखिर निष्ठावान् बेटा था। शोकके दिनोंमें न उसने शराबको हाथ लगाया, न वेश्याके घरकी ओर निगाह की, न जूआ खेलनेकी सोची। मियाद बीतनेके बाद बेटे साहब चले सुबह आठ बजे शराब पीने। पर बापकी बात याद आ गयी। इस-लिए रुक गये। ठीक बारह बजे पहुँचे शराबकी दूकानपर। वहाँ क्या देखते हैं कई शराबी नशेमें चूर रास्तेमें पड़े हैं। जिनका मुँह कुत्ते सूँघ रहे हैं। न जाने कुत्तेको शराबकी गन्धसे क्या होता है कि वह सूँघकर वहीं पेशाब कर देता है। यह गन्दा दृश्य देखकर तो वह घबरा उठे। फिर उन्होंने कई शराबियोंको लड़खड़ाते हुए देखा। कइयोंको हकलाते और तुतलाते हुए देखा। कइयोंको कुछका कुछ बकते देखा, मतलब यह कि दिनमें स्वप्न-सा देख रहे थे, जैसे ही दूकानदारने स्वागतम् कहा कि उनकी नींद टूट गयी और उत्तर दिये बिना उलटे पाँव घर लौट लिये फिर कभी शराबखानेकी ओर मुँह नहीं किया।

रात हुई आठ बजे वेश्याके घरकी याद आयी। उठे कि बापको दिये वचन याद आ गये। सहधर्मिणी यह देख अचरजमें पड़ गयी। तैयार होकर रुक जानेका दृश्य उसने अपने जीवनमें कभी देखा ही न था। और जब उसके पतिदेव उससे मीठी बातें करने लगे तब तो वह विह्वल हो उठी। उसकी आँखें गंगा-जमुना बहाने लगीं। बड़े परिश्रमसे उसने उन भावोंको रोका। रोजकी तरह पतिको रातका दूध दिया और अपनी आँखों उसने अपने पतिको अपने पलंगपर आरामसे नींद लेते हुए देखा।

उसने तसल्लीकी सांस ली, अपने इष्टदेवको याद किया, आंखें बन्द कीं और निद्रादेवीकी गोदमें जा बैठी। उसके पतिदेव चार बजे जागे, सीधे वेश्याके यहां पहुँचे। अव्वल तो उसने द्वार खोलनेमें हिचर-मिचर की। पर पैसेकी गुलाम, दरवाजा खोलना ही पड़ा। जब उन्होंने उसका रूप देखा तो उन्हें खिचावकी जगह उससे घृणा होने लगी। पैसे पटक बिना बात किये उलटे पाँव घर लौटे। मन-ही-मन बोले, तो अबतक हम घोंघे ही में थे। यह कम्बख्त घरकी पतिव्रताके पासंग भी नहीं। इन विचारोंमें डूबकर अपने-आप उनके मुँहसे निकला अब थू!!

जूआ दिवाली तक चला। दिवालीपर जब खातेकी जाँच की गयी तो पता लगा कि जूएके नाम-ही-नाम है, जमा तो बराये नाम है। एक-दम मुँहसे निकल पड़ा धत तेरे के!! यह तो टोटेका व्यापार है!।

पर-पीड़ा-प्रसंग!

वात्सल्य गुण जो जो गुल खिलाता है, क्या उसका हिसाब रखा जा सकता है? बात असलमें यह है कि यह गुण निर्मल आत्माका स्वभाव है। इसलिए इसके बलपर जो आकर्षण होता है वह गहराई तक पहुँचता है। "वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने रे"—नरसी मेहताकी यह पंक्ति सभी तो गाते हैं। और गाते यों हैं कि गान्धीजीको पसन्द थी। पर दूसरेकी पीरको जानता कौन है? हो सकता है यही पंक्तियाँ बेवक्त गाये जानेपर किसीको पीर पहुँचाने लगें। मन्दिरके घण्टे घड़ियाल और शंखध्वनि, मस्जिदकी अज़ान, गिरजेके घण्टे कभी-कभी बहुत दुःखदायी हो बैठते हैं। उन्हें रोकनेको कहो तो वे लड़नेपर उतारू हो जाते हैं। और उस लड़ाईको धर्मयुद्ध कहते हैं "पराई पीर" जानते-जानते पर-पीड़ामें लग गये और उसीमें आनन्द मानने लगे। ये सब उसके द्वारा हो सकता है, जिनका आत्मा निर्मल नहीं होता। पर वैसे आदमी सन्वेता ही कब हो पाते हैं? वह नेता ही क्या जो दूसरोंके दुःखको ही न पह-

चान सके।

'अ', 'ब' को पीड़ा दे, यह मैं शायद जान सकता हूँ, पर मैं 'ब' को पीड़ा दे रहा हूँ यह मैं बिलकुल नहीं जानता। कारण यही कि मुझमें आदमियत नहीं है। मेरा आत्मा निर्मल नहीं है। धुँधला आत्मा किसीको कैसे ठीक-ठीक परख सकता है। अनेक व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो बहुत बोलते हैं। उनसे लोग ऊब उठते हैं। पर वे हैं कि बोले ही चले जाते हैं। बोलना ही नहीं हमारा देखना, सुनना सभी कुछ पर-पीड़ाके कारण बन सकते हैं। पर यह कि वे बन गये हैं या बन रहे हैं, इसका हमें ज्ञान ही नहीं हो पाता है।

पर पीड़ा कुछ एक तरह थोड़े ही पहुँचायी जाती है। उसके तो अनगिनत ढंग हैं। किसी एक भी ढंगको आप पकड़ पाये तो दूसरे ढंग बड़ी जल्दी आपकी पकड़में आ जायेंगे। पर ऐसा उसी वक़्त होगा, जब आपकी आत्माका धुन्ध छट चुका होगा।

वात्सल्यके बलपर नेता लोगोंके हृदय तक पहुँच जाता है। और वह उन सब दुर्गुणोंसे मुक्त हो जाता है जो हम सबमें भरे पड़े हैं। वचन निभानेकी बातको ले लीजिए। इस सम्बन्धी ज़रा-सी भूलके कारण हम कितने आदमियोंको दुःख पहुँचा देते हैं। कभी किसीने इस बातपर ध्यान दिया है? पर कोई सन्नेता ऐसी भूल कदापि नहीं करेगा।

यहाँ एक शंका उत्पन्न हो सकती है कि अच्छेसे अच्छे काम किसी-न-किसीके लिए दुःखदायी हो सकते हैं, तो क्या अच्छेसे अच्छे काम करना छोड़ दिया जाये? शंका ठीक है, पर यहाँ तो हम यह कह रहे हैं कि जहाँ हमसे किसीको सीधे दुःख पहुँचता हो या पहुँच रहा हो, उसका तो हमें ज्ञान होना चाहिए। और हमें उससे तो बचना चाहिए। हमारे किसी अच्छे कामसे ना सीधे ढंगसे यानी परोक्षरूपसे अगर किसीको दुःख पहुँच रहा है तो वह दूसरी बात है। सन्नेता उस दुःखको भी कम करनेका ढंग निकाल लेता है और अपने अच्छे कामोंको ज़ारी रखता है।

दैहिक-दर्द

प्रजनन क्रियामें नारीका देह दुःख मानता है। पर उसका मन उतना दुःख नहीं मान रहा होता। हो सकता है आत्मा सुख मान रहा हो। इसलिए प्रजनन दुःखको सुखदायी दुःखके नामसे पुकारा गया है। 'मीठा-मीठा दर्द' बड़े पतेकी बात बता रहा है। दर्द और मीठा! उसे तो कड़ुवा होना चाहिए था। अगर वह मीठा है तो कोरा दैहिक दर्द है। नेता ही नहीं, किसीको भी उस दर्दकी मामूलीसे ज्यादा परवाह नहीं करनी चाहिए, जिसमें देहको पीड़ा होती हो, पर मन मस्तक और आत्मा सुख मान रहा हो। डॉक्टरोंकी शल्यक्रिया कुछ ऐसी ही पीड़ा है। हमने ऊपर 'मामूलीसे ज्यादा परवाह' की बात लिखी है। वह जान-बूझकर लिखी है। दैहिक दुःखकी भी परवाह करनी चाहिए, ऐसा न होता तो क्लोरोफ़ॉर्म और ईथर-जैसे अनैस्थैटिक यानी बेहोश या शून्य करनेवाले पदार्थोंका आविष्कार न हुआ होता। सन्नेताका सारा ध्यान आत्माके सुखपर केन्द्रित रहता है। पर इसका यह मतलब नहीं है कि वह देहकी ओरसे बेपरवाह रहता है। घड़ीकी सूई एक कीलपर जड़े रहनेपर भी बारहों अंकोंपर घूम आती है। नेता आत्मवादी होते हुए भी इस बातका पक्का ज्ञान रखता है कि विशुद्ध आत्मा समझने-भरकी चीज है। व्याव-हारिक चीज नहीं। व्यवहारमें तो सदेह आत्मासे ही पाला पड़ता है।

प्रेमके कृत्य कोई-कोई बड़े अटपटे दीख पड़ेंगे। कोई-कोई बिलकुल ऐसे दीख पड़ेंगे मानो वे घृणाके कृत्य हैं। मान माया लोभके कृत्य हैं। किसीकी मौतको ले लीजिए। सचाईकी यह माँग है कि मृत देह मिट्टी है। इसे किसी भी तरह मिट्टीमें मिला देना चाहिए। पर व्यवहारकी माँग है कि उसका भी निरादर नहीं करना चाहिए। इसलिए नेता सचाईका मर्मज्ञ होते हुए भी व्यवहारको महत्त्व देता मिलेगा। हो सकता है निश्चयवादी ऐसे अवसरपर नेताकी ओर अँगुली उठाने लगें। पर नेता अंगुल्यनुमायीके खयालसे समयानुकूल कामसे मुँह नहीं मोड़ता। थोड़े शब्दोंमें वात्सल्य

नेताके कर्तव्योंको कब किस रंगमें बदल देगा, इसकी न पहलेसे कल्पना की जा सकती है न विस्तारसे लिखा जा सकता है। यह विषय ही ऐसा है कि नेता बननेपर अपने-आप समझमें आ जाता है। तैरनेमें किस ढंगसे किसको सुभीता होता है यह तैरनेवाला तैरकर ही जान सकता है। इसलिए कौन-सा काम किस ढंगसे करना चाहिए यह काम करनेवाला काम करके ही जान सकता है। नेतापनेकी कला पूरी-पूरी तो नेतृत्वके मैदानमें कूदनेसे ही आयेगी। ग्रन्थोंसे नहीं जानी जा सकती।

वात्सल्य नेतृत्वकी आखिरी मंज़िल है। वात्सल्य सिद्धि ही सिद्ध पदको पहुँचा देती है। कुशल कलाकारके मायने ही यह है कि उसे काम करनेमें ज़ोर महसूस न हो। हाथ सध जाना इसी ढंगका मुहावरा है। हाथ सध जानेपर भी बल कम लगाना पड़ता है। काम ज़्यादा हो जाता है। नया तैराक मिनिट-दो मिनिटमें हाथ-पाँव पीटकर अपनेको थका लेता है। जब कि कुशल तैराक बिना प्रयत्न घण्टों तैर सकता है। वह तो पानीपर लेटकर आराम भी कर सकता है और तैरनेका काम तो होता ही रहता है। यही हाल उस कुशल नेताका होता है जिसे वात्सल्य गुण सिद्ध हो गया होता है।

वात्सल्य नेताको इतना हलका बना देता है कि अगर यह कहा जाये कि वह कर्म गगनमें उड़ने लगता है तो बढ़कर कहना न होगा। उस बहूकी कहानी आपने सुनी होगी, जिससे पंसेरा तो उठता नहीं था, पर पाँच सेरकी हँसुली गलेमें लटकाये फिरती थी। जब नक़ली प्रेममें इतना बल है, तब असली प्रेम कितना बलवान् होगा, इसका अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता। हवा वज़नदार चीज़ है। पर फ़ुटबालमें जितनी हवा भरते जाओगे, उतना ही उसे हलकी पाओगे। वैसे ही वात्सल्यमें अपना भार है, पर वह बढ़कर हलका हो जाता है। ग़ोता लगाते वक़्त सैकड़ों ही मन तो पानी हमारे ऊपर होता है। पर हमें बोझल नहीं मालूम होता। बीस सेर पानीकी बाल्टी तो थोड़ी ही देरमें हमें अखरने

लगेगी। ठीक इसी तरह वात्सल्य जैसे-जैसे घर, नगर, प्रान्त और देश इत्यादिकी सीमाएँ तोड़ता जाता है, वैसे-वैसे उसका हल्कापन भी बढ़ता जाता है। और नेताके काम करनेकी शक्ति भी बढ़ती जाती है।

प्रेरणा-स्रोत

भारी चीज हवामें नहीं ठहरती, पर यह तो हम अपनी आँखों देखते हैं कि फेंका हुआ पत्थर गजियों हवामें जाता है, बन्दूककी नलीसे फेंकी हुई गोली मीलों हवामें उड़ लेती है, और हवाई जहाज सैकड़ोंको अपने पेटमें बैठाकर समुद्र पार कर जाता है। यह सब सिद्धान्तके विपरीत कैसे होता है? विज्ञान इसका उत्तर देता है: इम्पीट्स यानी धक्का काम देता है। ठीक इसी तरह कर्म-क्षेत्रमें प्रेम ही वह पदार्थ है, वात्सल्य ही वह गुण है जो प्रेरणा प्रदान करता है। उत्साह और प्रेरणा बड़ी चीज होती हैं। बारह-चौदह बरसके लड़केको शामसे ही नींद आने लगती है। हर माँ सोते हुए बच्चेको रातको दूध पिलाती है। उसकी आँख ही नहीं खुल पाती। पर अफ़गानिस्तानके बादशाह अमानुल्लाका बारह बरसका लड़का पेशावरसे बम्बई तक रेलगाड़ीमें बिलकुल नहीं सोया। खिड़कीके पास बैठा रहा। और नये-नये दृश्य देखता रहा। पहला रेलका सफ़र था। ज्ञानकी प्यासने उत्साहकी लहर दौड़ा रखी थी। ठीक इसी तरह नेतामें जब उत्साह जाग जाता है, तब उसे बेहद गति मिल जाती है। वह आगे और आगे बढ़ता ही जाता है। प्रेरणा और उत्साह चीज ही ऐसी है। अपनी समझमें तो हम अपना दिल उड़ेलकर रख रहे हैं, एकसे ज्यादा काम हम अपने जीवनमें कर चुके हैं। हम स्वयं थकानका अनुभव नहीं करते थे, फिर भी हमें यह विश्वास नहीं हो पा रहा कि आप हमारे शब्दोंसे वह चीज प्राप्त कर लेंगे जो हमें शब्दोंसे प्राप्त नहीं हुई थी। हाँ, शब्द हमारी मददको जरूर आये थे, उन्होंने हमें बल दिया था पर प्रेरणा तो हमें किसी दूसरी जगहसे ही मिली थी। और वह था सत्य-श्रद्धान। अगर वह आपमें है और कण बराबर भी है तब तो शब्द मन-भर काम कर जायेंगे।

■

प्रभावना

देखनेमें तो ऐसा मालूम होता है कि नेता नामका भूखा होता है। अँगरेजीकी एक कहावत भी है कि "फ़ेम इज़ दी लास्ट इनफर्मिटी ऑव दी नोबुल माइण्ड" भव्य मनकी अन्तिम कमज़ोरी है प्रसिद्धि। यानी सब कुछ छोड़कर भी आदमी नामका भूखा रहता ही है। हो सकता है यह कहावत सोलहों आने सत्य हो। या आजके अनुसार बीसों पंजे सत्य हो। पर नामकी भूख भी तरह-तरहकी हो सकती है। एक ऐसी जिसके लिए किसीने लिख मारा 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' यानी भूखा आदमी किस पापपर उतारू नहीं हो सकता। दूसरी ऐसी कि चाहे भूखों मरना पड़े, पर शानके खिलाफ़ काम न हो सकेगा। जिसके लिए कहावत है, 'प्राणोंसे प्रण प्यारा'। प्राणोंसे आबरू प्यारी। आबरू मान अभिमान एकार्थवाची शब्द हैं। इसलिए आप यह भी कह सकते हैं कि प्राणोंसे देशका मान प्यारा, समाजका मान प्यारा, धर्मका मान प्यारा, कुलका मान प्यारा और सबसे प्यारा आदमी होनेका मान। यानी स्वाभिमान।

जो इन मानोंका खयाल रखता है, वही देशकी शान बढ़ाता है। समाज, धर्म और कुलकी शान बढ़ाता है। अपना ही नहीं अपने बाप-दादाओंका नाम उछालता है और यही क्रिया नाम पाती है—'प्रभावना'। तलवारके बलसे दूसरे देशोंको जीतकर वहाँके राजा बनकर अपने धर्मके फैलानेके नामपर सोनेका छत्र लगाकर दस-बीस घोड़ोंवाली बग्गीमें बैठकर यह समझना कि धर्मकी प्रभावना हो रही है, कभी भले ही ठीक समझा जाता रहा हो, आज तो यह धर्मका डुबोना समझा जायेगा। पर होता आज भी देखा गया है।

रसूलों, पैगम्बरों, तीर्थंकरों, ऋषियों, अवतारों, मुनियों, सन्तों, राजाओं, रानियों, सतियों इन सबकी यादगारें खड़ी करके इन सबके जन्मदिन मनाकर इन सबके मेले करके या रथ निकालकर न धर्मकी शान बढ़ती है न आजादी। कुलकी कान भी नहीं बढ़ती। इससे ढोंगका मान ऊँचा होता है। और ढोंग ही शान बन बैठता है। ढोंग या दिखावा कभी नेतृत्व वृक्षके फल नहीं हो सकते। स्वार्थ वृक्षके फल हो सकते हैं। क्योंकि इन सबकी तहमें यही सब तो छिपे होते हैं।

धर्मकी शान तो यह है कि अपने बापको मारनेवाला भी अगर शेरके भयसे या डाकुओंके भयसे मेरे घरमें शरण ले तब भी मैं उसका सब कुकर्म भुला बैठूं और उसकी ऐसे ही रक्षा करूँ, जैसे मैं अपने भलेसे भले बेटेकी करता हूँ। यह होती धर्मकी प्रभावना। अपने हिन्दुस्तानकी जो चीज अभय है वह यही तो है। इसके विपरीत हमारी आपसी फूट जहाँ हमारे देशकी आबरूको बट्टा लगा रही है, वहाँ धर्मकी शान भी किरकिरी कर रही है, सामाजिक जीवनको लजा रही है और हमारे बुजुर्गों और ऋषियों, मुनियों, सती सतवन्तियों सभीकी गरदन झुका रही है।

सन्नेता कोई ऐसी भूल कर ही नहीं सकता, जिससे देश बदनाम हो, जिससे धर्मको बट्टा लगे, जिससे समाज पतित समझा जाने लगे, जिससे हमारे बुजुर्ग अयोग्य माने जाने लगें, जिससे हमारे ऋषि-मुनियोंकी तपस्याकी चादरपर धब्बा लगे। वात्सल्य कली जिस वृक्षमें लगती है, उसमें तो न्यायके फल लग सकते हैं, करुणाके फल लग सकते हैं, समताके फल फल सकते हैं, क्षमाकी फलियाँ लग सकती हैं। उन कलियों और फलोंसे एकताकी गन्ध आ सकती है, सार्वभौम प्रेमकी खुशबू फैल सकती है और स्वर्ग-जैसी अगर चीज कहीं है तो वह धरतीपर आ उतर सकती है।

किसका दिल बल्लियों न उछड़ने लगेगा? किसका चेहरा फूलकी तरह न खिल उठेगा, किसका सारा देह पुलकित न हो उठेगा, जब वह सुनेगा कि

भारतमें कभी ऐसा भी समय था, जब कोई भूखा उठ तो सकता था, पर कोई भूखा सो नहीं सकता था। जब भारतमें दरवाज़े बन्द करके सोना गुनाह समझा जाता था। जब मेहमानकी खातिरदारी ही महान् धर्म नाम पाती थी। जब बच्चे और महिलाएँ कहीं भी कभी भी अकेले जानेके लिए आज़ाद थे और सुरक्षित तो थे ही। यही सब तो है धर्मकी प्रभावना, यही तो है नेतृत्व वृक्षके फल। सन्नेता यही सब तो करता है। यही सब तो सिखाता है और सिखा जाता है। इसीका नाम है चित्र परिवर्तन। आप चाहें तो उसे चित्र संवर्धन भी नाम दे सकते हैं। हृदयकी महत्ता भी कह सकते हैं।

हृदयकी महत्ता मूर्खतापर भी टिक सकती है, पर वह होगी बालूपर बने मकानके समान। कभी भी धर्मसे गिर जानेवाली। और हृदय-हीनताका रूप ले लेनेवाली। सन्नेताकी दी हुई हृदयकी महत्ता अटिकाऊ नहीं होती। टिकाऊ होती है। उसका महल ज्ञान-विज्ञानकी पथरीली धरतीपर खड़ा किया गया होता है। सन्नेता पहले मस्तक और आत्माको परिष्कृत करता है, उसके बाद हृदयको छेड़ता है। उस समय हृदय यानी मन, बुद्धि और आत्माके क़ाबू रहता है। और पागलों-जैसा व्यवहार करना छोड़ देता है। पागलके द्वारा किये हुए महान् कृत्य अपनाये जा सकते हैं, पर न उनके गीत गाये जा सकते हैं, न उसके करनेवालेके ऐसा करना कुनेताओंको जन्म देना है। सन्नेता इस असलियतको खूब समझता है। वह ऐसे कृत्य नहीं करता जो समाजकी कुभावनाओंको पोषण कर समाजको खुश करनेवाले हों। वह ऐसे कर्मकाण्डमें न फँसता है, न किसी-को फँसने देता है, जिससे धर्मके अनुयायियोंकी विषय-इन्द्रियाँ पुष्ट हों और सत्कर्म भावना निर्बल बनें।

प्रभावनाके नामपर आज जो कुछ हो रहा है, उससे प्रभावनाका दूरका भी रिश्ता नहीं है। उसे मनबहलाव नाम दिया जा सकता है। वह मनबहलाव भी ऐसा, जिसमें बुद्धि शरीक न हो। हाँ, दूरसे बैठी

तमाशा देख रही हो। असलमें प्रभावनाके कार्य यानी देश, धर्म, समाज, कुलकी शान बढ़ानेवाले काम तो ऐसे चुपके-चुपके फैलते और बढ़ते हैं और समाजके व्यक्तियोंको प्रभावित करते हैं, जैसे बालकमें जवानी या लड़कीमें मातृत्व। समाजका समाज क्षणोंमें कुछका कुछ हो जाता है और पीढ़ियाँ उसके प्रभावको अपनेमें अनुभव करती रहती हैं। और यही धर्म है जिसे संस्कृति नामसे पुकारा जाता है। संस्कृतिका अर्थ है अच्छे संस्कार न कि पहनावा-उढ़ावा या भजन-कीर्तन या खान-पान इत्यादि।

राजकाजी शान इसमें है कि राजा जब यह देखे कि उससे कोई भूल हो गयी है या जनता उसको नहीं चाहती तो वह गद्दी छोड़ दे। उस देशकी राजकाजी शान ऊँची नहीं समझी जा सकती जिसने देशकी गद्दीसे राजाको न हटाकर राजपदको हटा दिया हो और उसकी जगह राष्ट्रपति पदको बिठा दिया हो। और जाने-अनजाने वहाँ उसे ऐसा ही चिपका दिया हो जैसे भारतके इतिहासमें सुल्तानशाही चिपक गयी थी। जो तीन सौ बरस चिपकी रही। इसमें गद्दी बेटेको नहीं मिलती थी, लाठीको मिलती थी। सुल्तानशाहीने भी एक-दो अच्छे सुल्तानोंको जन्म दिया पर उसे हम भारतदेशकी शान कहकर नहीं पुकार सकते। उससे समाज या धर्मका मान नहीं बढ़ा, किसी कुलकी कान भी नहीं बढ़ी, व्यक्तिकी महत्त्वाकांक्षाओंका पोषण हुआ।

हम राजाओंके समर्थक नहीं। हम उन साहसी व्यक्तियोंका साहस भी नहीं बढ़ाना चाहते। कुछ आदमी लेकर निकले और भारतके महाराजा बन बैठे। या जो मामूली सिपाही थे और लूटपाटके बलपर राजपद तकको लूट लाये और भूपति कहलाने लगे। फिर भी बाबरकी तारीफ़ किये बिना न रहेंगे। बाबर अपने बेटे हुमायूँकी खातिर अपनी जान अर्पण कर देता है। भले ही यह कृत्य मोहजनित समझा जाये, पर इसकी गणना राजकाजी शानमें होनी चाहिए।

वह सब राजकाजी शान है, जब जहाँ कोई राजा या कोई उच्च

पदाधिकारी कोई ऊँचा काम कर दिखाये। हृदयकी महत्ता दिखा पाये। त्यागकी चोटीको छू पाये। किसी देशको विजय कर लेना राजकाजी शान नहीं होता। इसकी गिनती लाठीको शानमें होती है। लाठीवाले नेता तैयार करनेके लिए यह पुस्तक लिखी भी नहीं गयी। यह पुस्तक लाठीसे लड़कर लाठीका समर्थन करनेकी भूल नहीं करेगी। क्योंकि यह चित्त संवर्धनकी समर्थक है। उदात्त भावनाको ही शान मानती है।

हमें यह बात खेदके साथ लिखनी पड़ रही है कि राजकाजी शानके जैसे उदाहरण हम चाहते हैं, वैसे उदाहरण न भारतका इतिहास मुहैया कर सकता है न उसके पुराण। दुनियाके और देश भी वैसे उदाहरण पेश नहीं कर सकते। पढ़े तो हमने इंग्लैण्ड और जापानके इतिहास भी हैं, पर हाँडीमें-से एक चावल न्यायके आधारपर हमारा अनुमान ग़लत नहीं समझा जाना चाहिए। चीनके इतिहासकी कुछ उड़ती-उड़ती बातें हमारे पल्ले पड़ी हैं। वे कानोंको अच्छी भी लगीं। पर उनको भी उदाहरणके रूपमें पेश नहीं किया जा सकता। चीन भी भारतकी तरह वंशों और वंशजोंसे शासित होता आया है। इसे राजकाजी शान ही समझा जायेगा कि राम माथेपर शिकन डाले बिना राजतिलक माथेसे पोंछ, मुकुट फेंक, वल्कल वस्त्र धारण कर वनवासी बन जाते हैं। यह भी राजकाजी शान ही है कि लक्ष्मण रामके साथ चल देते हैं। रामायण-भरमें और कहीं कोई राजकाजी शान नहीं मिलती। इसे भी हम राजकाजी शानके तौरपर पेश कर सकते हैं, जब यदुवंशी कृष्ण जब अपने दो टुकड़े कर कौरव पाण्डवोंके सामने रख देते हैं। वे दो टुकड़े यह कि एक तरफ़ बेतलवारके कृष्ण और दूसरी ओर उनकी सारी फ़ौज। यह उदाहरण बेशक उदात्त भावोंका द्योतक है। अर्जुनको छाँटनेका पहला अवसर देना और उसके लिए अपने ढंगकी युक्ति पेश करना हमारी राजकाजी शानमें जगह नहीं पा सकता। उसकी तहमें कूटनीतिकी-सी गन्ध आती है।

बेशक इसे हम शूरमाई शानके खानेमें डालेंगे जब भीष्म पितामह

तीरपर तीर झेले जाते हैं, पर शिखण्डीपर बाण चलानेके लिए धनुष नहीं उठाते। दुनियामें न बहादुर जीवित रह पाते हैं न क्लीव। उदात्त भाव ही रह जाते हैं। इन्हीं भावोंसे नेताकी शानका पता चलता है। ये ही देशकी उन्नतिके द्योतक होते हैं। यही देश धर्मकी शान बढ़ानेवाले होते हैं। इन्हींकी प्रभावनामें गिनती होनी चाहिए।

पुराणोंसे इतिहासकी तरफ़ आइए। पंजाबके राजा पुरुका यह क़दम राजकाजी शानका द्योतक है कि वह दूत बनकर आये सिकन्दरको पहचान लेता है। पर उसे दूत ही मानता रहता है और उसके साथ वैसा ही व्यवहार करता है। पृथ्वीराज चौहान गोरीको पकड़कर छोड़ देता है। इसकी गणना राजकाजी शानमें होनी चाहिए।

इस तरहके उदाहरण इतिहासमें अनेक मिल सकते हैं, पर इनसे व्यक्ति ऊँचा उठा। समग्र रूपमें न देश उठ पाया न समाज, न धर्मकी शान बढ़ी, न कुलकी। हम बीसवीं सदीमें रह रहे हैं, राम और कृष्णका जमाना संस्कृतिके बालककी शान है। अब संस्कृति पूरी जवानीपर न भी आयी हो तो 'टी नेजर' यानी किशोरी ज़रूर हो चुकी है। उससे बड़ी शानकी आशा करना ज्यादा आशा करना नहीं है। इसलिए आज जो नेता बनना चाहता है उसका राजकाजी आदर्श क्या होना चाहिए, यह उसके सामने जितना साफ़ होगा, उतना ही उसका आगेका रास्ता सुखद सिद्ध होगा।

अनुभवकी बात

इस समय हम लेखक हैं। लेखककी हैसियतसे ऐसी बातें लिख-लिखा देते हैं जो सिद्धान्त रूपसे ठीक होती हैं, व्यवहार रूपसे नहीं। ऐसी बात लिख सकनेकी इसलिए हिम्मत कर रहे हैं कि हम अपनी आयुका एक बटा तीन भाग, बल्कि उससे कुछ ज्यादा कर्म-क्षेत्रमें बिता चुके हैं। लिखना न हमारे कुलका पेशा रहा है न हमारा पेशा है। लिखना हमने

सीखा नहीं है। लिखना हमें आता भी नहीं है। हाँ, पढ़ा बहुत है। वह अभी भी हमारे सिरमें ठुसा हुआ है। कभी-कभी जाने-अनजाने लेखनी उसीको काग़ज़पर उगल देती है। यही कारण है कि इससे पहले पैरेकी अन्तिम दो पंक्तियाँ यह कहती हैं कि नेताका आदर्श उसके सामने साफ़ रहना चाहिए। लेखनीने जैसे ही ये शब्द लिखे कि कर्म क्षेत्रके अनुभवने एक फटकार बतायी। वह झिड़ककर बोला—सन्नेताका आत्मा इतना मझ जाता है कि उसके कृत्य आदर्शका रूप ले लेते हैं। दुनियाके अवसरोंको न गिनाया जा सकता है न उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। प्रत्येक अवसर अपने ढंगका अलग होता है। दो सन्नेता एक ही तरहके अवसरपर एक-सा वर्ताव करें, यह हो ही नहीं सकता। दोनोंके वर्ताव भिन्न होंगे। पर दोनों ही आदमियत लिये हुए होंगे। दोनों ही आदर्श उपस्थित करनेवाले होंगे। दोनों ही सब तरहकी शान बढ़ानेवाले होंगे। दोनों ही प्रभावनाके अंग होंगे।

हम ऊपर कई बार कह चुके हैं और फिर कह रहे हैं कि सत्य श्रद्धापर टिका हुआ नेता उसी क्रमसे आगे बढ़ता है जिस क्रमसे यह पुस्तक लिखी गयी है। इस बातके कहनेमें हमारा अपना अनुभव तो शामिल ही है पर व्यवहार भी हमसे यही कह रहा है। इसलिए हम फिर ज़ोरके साथ कहते हैं कि इस रास्तेसे गुज़रा हुआ नेता स्वप्नमें भी कोई ऐसा काम नहीं कर सकता जिससे देशकी शानको बट्टा लगे। धर्म या समाजकी शानको बट्टा लगे। कुलकी या उसकी अपनी शानको बट्टा लगे। बात असलमें यह है कि ऐसा काम उसकी ताक़तके बाहर हो जाता है।

एक हमारे वकील मित्र थे। ये हमसे काफ़ी बड़े यानी कोई दस-बारह बरस बड़े। करते तो वकालत थे, पर समयपर सबके काम आ जाते थे। समाज उन्हें नेता मानने लगी थी। पर उन्होंने उस पदको कभी अपनाकर नहीं दिया। वकीलकी हैसियतसे मुव्वकिलकी ख़ातिर अदालतके सामने बहस करते हुए झूठ बोलनेमें उन्हें कभी झिझक नहीं होती थी।

पर समाजमें उनकी गिनती सच्चे आदमियोंमें थी। यह कहकर हम कोई बढ़कर बात नहीं कह रहे कि शहर-भरमें वही सबसे सच्चे आदमी माने जाते थे। व्यवहारमें सच्चे, बोलनेमें सच्चे, सोचनेमें सच्चे। सचके साथ और जो गुण हो लेते हैं वे उनके साथ थे ही। जैसे—दयालुता, उदारता, क्षमता इत्यादि। आखिर एक दिन परीक्षाका आ गया। 'परीक्षाका दिन आ गया', इतना हम लिख रहे हैं। उन्हें तो ऐसी परीक्षाएँ रोज देनी पड़ती थीं। हाँ, आज स्थल दूसरा था। वह यह कि आज वह वकीलकी हैसियतसे अदालतके सामने मौजूद नहीं थे। दोषीकी हैसियतसे कठघरेमें खड़े थे। तमाशा देखनेके लिए शहरके लोगोंकी भीड़ लग गयी। पर वे थे कि उन्हें कुछ मालूम ही न हो रहा था। अदालत शुरू हुई। अदालतने सवाल करने शुरू किये। उन्होंने जवाब देने शुरू किये। अदालत उनको क़द्रकी नज़रसे देखती थी। उनकी बुज़ुर्गी और उनकी भलमंसीका खयाल करके अदालत चुप न रह सकी। बोली :

अदालत—बाबू साहब आपको मालूम है आप कहाँ खड़े हैं ?

हमारे वकील दोस्त—क्या मतलब ?

अ०—यही कि आप अदालतके सामने हैं।

व०—जितना आप जानते हैं उतना मैं भी जानता हूँ।

अ०—क्या यह भी आपको मालूम है कि आप इस वक़्त अदालतके सामने वकीलकी हैसियतसे नहीं खड़े हैं, दोषीकी हैसियतसे खड़े हैं।

व०—यह तो कटघरा ही बता रहा है।

अ०—अब मैं अदालतकी हैसियतसे नहीं दोस्तकी हैसियतसे आपसे पूछता हूँ कि अदालतके सामने सच बोलनेसे परिणाम क्या होगा, यह आप जानते हैं !

व०—मुझे अफ़सोस है कि मैं अदालतमें अदालतके सामने अदालतके दोस्तकी हैसियतसे बात नहीं कर सकता। रही यह बात कि मेरे सच

बोलनेका क्या परिणाम होगा। यह मैं शायद आपसे अच्छा जानता हूँ। क्योंकि मैंने क़ानूनका इम्तिहान पास किया है।

अ०—तो क्या आप जान-बूझकर सज़ा पाना चाहते हैं ?

व०—मैं सज़ा पाना नहीं चाहता। मैं सच बोल रहा हूँ। न मैं झूठ बोल सकता हूँ न मुझे झूठ बोलना आता है।

अ०—तो क्या आप वकीलकी हैसियतसे मुवक्किलकी खातिर हमेशा ही सच बोलते हैं ?

व०—पर अब मैं वकीलकी हैसियतसे कहाँ हूँ। मैं तो दोषीकी हैसियतसे हूँ।

अ०—क्या दोषी बचनेकी कोशिश नहीं करता ?

व०—यह अदालतसे ज्यादा दोषी जानता है। और इस वक़्त अदालतमें खड़ा दोषी और भी ज्यादा जानता है। क्योंकि क़ानूनका आलिम ही नहीं आमिल भी है। (क़ानूनका ज्ञाता ही नहीं क़ानूनपर चलता भी है) तभी तो वह सच बोल रहा है।

यह थी हमारे वकील दोस्तकी वकालतकी शान। सचमुच सचने उनकी रक्षा की। उनका बयान सुनकर शहरके सारे वकील दाँतोंतले अँगुली दाब गये। भीड़ खड़ी-खड़ी अश-अश करने लगी। याद रहे यह सन् उन्नीस सौ इक्कीसकी बात नहीं है। उससे तीन-चार बरस पहलेकी बात है। सन् १९२१ में गान्धीकी आँधीमें बहकर तो हर कोई अदालतके सामने जरूरतसे ज्यादा सच बोल लेता था। और जरूरतसे ज्यादा मज़ाक़ भी कर लेता था। जिस तरह हमारे इस वकील दोस्तका आत्मा सचके सिवाय झूठ बोल नहीं सकता था, वैसे ही सौ टंचका नेता ऐसा कोई काम कर ही नहीं सकता जो देशकी शानके खिलाफ़ हो।

गिरी हुई तबीयतें, रूढ़ि रिवाजोंमें पली आत्माएँ, और निम्न ढंगसे

सोचनेवाले लोग यह भी तो नहीं समझ पा सकते कि प्रभावना कहते किसे हैं। ये लोग कैसे सोचते है, ज़रा सुनिए :

एक—वह लाला घसीटामल दोहरे बाट रखता है। लेनेके अलग और देनेके अलग।

दूसरा—यह तो युगोंसे चलता आया है। सभी तो ऐसा करते हैं और फिर उसने तो एक शंकरजीका चबूतरा भी बनवा दिया है।

एक—घसीटामल तोलनेमें ही तो गड़बड़ी नहीं करता। वह अच्छे गेहूँओंमें हलके गेहूँ मिला देगा। हलके चावलोंमें अच्छे चावल मिला देगा। दिखायेगा कुछ और देगा कुछ। अपने बापको भी तो नहीं छोड़ता।

दूसरा—थोड़ा-बहुत सभी ऐसा करते हैं। पर उसका दिल तो देखो उसने रामलीलाके चन्देमें दस रुपये दिये थे पूरे दस। जब कि लखपति अनन्दीलालकी अण्टीसे मुश्किलसे पाँच ही निकल पाये।

एक—तुम घसीटामलको क्या जानो। ज़रा उसके दामादसे पूछो। अब कम्बख्त बेटीके ज़ेवरको भी हड़प कर गया।

दूसरा—अरे, यह सब कहनेकी बातें हैं। बेटीका ज़ेवर हड़प कर गया तो कौन-सा धर्म डूब गया। वह सब ज़ेवर उसीने तो उसे दिया था। और उसके ब्याहमें कितना खर्च किया उसका कुछ तुम्हें पता है? गंगाके किनारे रामघाटमें मुर्दघाटके पास बड़ी तकलीफ़ होती थी। वहाँ इसी घसीटामलने पाँच सौ रुपये अपनी गाँठसे लगाकर सबके सुभीतेके लिए मकान खड़ा कर दिया। और लोग हैं कि उसे बदनाम किये जा रहे हैं।

एक—नहीं हम बदनाम नहीं करते हम तो बात बता रहे हैं। हम तो उसे प्यार करते हैं। हम तो हिन्दू-मुसलिम एकताके हामी हैं। और हमारे दोस्त घसीटामल तो मुसलमानके हाथका पानी पी लेते हैं। आज ही उन्होंने मेरे सामने उनकी सुराहीसे पानी पिया था।

दूसरा—हैं! मुसलमानके हाथका पानी पी लिया! काज़ी साहबकी सुराहीका? तब तो साले घसीटाने धर्म डुबो दिया। पक्का लुटेरा है। उसका तो सुबह मुँह भी नहीं देखना चाहिए।

यह है लोगोंकी विचारधारा। वे धर्मको अधर्म और अधर्मको धर्म समझे हुए हैं। यही कारण है कि दुनिया आडम्बरोंमें फँसकर धर्मसे दूर हटती जा रही है। वह सारे काम इस तरहके कर रही है जिससे देश बदनाम हो रहा है। दिवालीका जूआ, होलीकी गालियाँ, मोहर्रमकी ताजियेदारी, शब्बरातकी आतिशबाज़ी धर्मका अंग बन बैठी हैं। इनसे प्रभावनाका क्या सम्बन्ध? इनका सम्बन्ध स्थापित करने-जैसी भूल सन्नेतासे कभी नहीं हो सकती।

हमारे पाठकोंने अब भली भाँति समझ लिया होगा कि सन्नेता बनना अगर एक तरफ़ बेहद मुश्किल काम है, तो दूसरी तरफ़ बेहद आसान भी है। जिसे नेता बननेकी चाह है वह नेता बननेकी न सोचे। जिसे भले बननेकी चाह है, जिसे आदमी बननेकी चाह है, जिससे समाजकी गिरावट न देखी जा सकती हो, जिसके मनमें देशकी दासता खटकती हो, फिर चाहे वह राजनैतिक हो, आर्थिक हो, सामाजिक हो, वैज्ञानिक हो, या किसी भी तरहकी दासता क्यों न हो, तो उसे ज़रूर इसके दूर करनेके काममें जुट जाना चाहिए। इस राह चलनेसे जल्दी या देरमें वह आदमी अपने-आप नेता बन बैठेगा। किसी भी सन्नेताकी जीवनीपर नज़र डाल जाइए। उसका प्रारम्भिक जीवन जब कि नेता बननेकी चाहसे तो ख़ाली मिलेगा ही, सेवक या समाज सेवक, धर्म सेवक या देश-सेवककी चाहसे प्लावित भी मिलेगा।

किसीको औरतसे इश्क़ होता है, किसीको ईश्वरसे इश्क़ होता है। इश्क़में जिस तरह आदमी तन, मन, धन सब कुछ झोंक देता है और लोगोंको दीवाना-सा दिखाई देने लगता है, वैसा ही सेवाके इश्क़में होता है। इश्क़, प्रीति, आसक्ति, शब्द शहर-शहर, गाँव-गाँव, घर-घर पहुँच

चुके हैं। बच्चे-बच्चेके कान इन शब्दोंकी ध्वनिसे परिचित हैं। बच्चे बच्चेका मस्तिष्क यानी दिमाग़ इन शब्दोंके वाच्यसे यानी मतलबसे परिचित हैं। इसलिए हम उसके विस्तारमें नहीं जायेंगे। यहाँ तो हमें इतना ही कहना है कि नेताका आत्मा सेवाके क्षेत्रमें निकलकर इतना मग्न जाता है कि उसके प्रकाशके कारण उसके विचारकी प्रत्येक तरंग, उसके मुँहसे निकला हुआ प्रत्येक शब्द, उसकी देहका प्रत्येक कण, स्वयं प्रभावनाका रूप ले बैठता है। वह दुनियाके किसी देशमें जाये अपने देशका नाम उछालेगा, अपने बुजुर्गोंकी शानको उबाला करेगा, अपने धर्मको निखार देगा, लोगोंमें मानवता पैदा कर देगा। खुद दुनियासे रिश्ता तोड़ जायेगा, पर नाम सदाके लिए छोड़ जायेगा।

■